प्रथमं परिशिष्टम्

विद्वद्वरेण्यश्रीगौड़ब्रह्मानन्दविरचिता अद्वैतसिद्धिव्याख्या

गौडब्रह्मानन्दी (लघुचन्द्रिका)

नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने ।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने ॥ १ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दप्रणीता

लघुचन्द्रिका-व्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिण: ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम: ॥

जिस (भगवान्) का लीला-कलेवर नूतन मेघ-घटा के समान ऐसा मोहक श्याम वर्ण का है, जिसकी कामना सौन्दर्य के अधिष्ठाता कामदेव को भी बनी रहती है और जो लक्ष्मी (धन) की कामना रखने वाले दम्पत्ति के सुदामा-द्वारा लाए गए पृथुक-कणों का इच्छुक तद्गृहस्थ है, ऐसे भगवान् कृष्ण को नमस्कार है। [श्रीमद्भागवत की कथा है कि भगवान् के गुरुकुल का साथी सुदामा नाम का ब्राह्मण था। दरिद्रता से तंग आकर उसकी पत्नी ने उसे भगवान् कृष्ण के पास द्वारका भेजा और भगवान् को उपहार देने के लिए ब्राह्मणों से चार मुट्ठी पृथुक तण्डुल (चावल के चिपिटक या चिवड़ा) माँगकर दे दिए। द्वारका पहुँचने पर सुदामा का भगवान् ने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। शिष्टाचार के पश्चात् भगवान् ने ही पूछा कि हमारे लिए उपहार क्या लाए हो—"किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात्" (श्री मद्भा० १०।८१।३)। सुदामा संकोच में पड़ा रहा भगवान् ने सोचा—"अयं श्रीकामो मामभजत्" (श्री मद्भा० १०।८१।६) अर्थात् यह सुदामा लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) की कामना से आया है, अत: सम्पत्ति अवश्य दूँगा, किन्तु अपना उपहार तो ले लूँ। भगवान् ने वह चावलों की पोटली छीन ली और मुट्ठी भर-भर कर लगे फाँकने। एक मुट्ठी चबा पाए थे कि लक्ष्मी ने हाथ पकड़ लिया और कहा—"एतावतालं विश्वात्मन्" (श्रीमद्भा० १०।८१।११)। बस कीजिए कच्चे चावल फाँके जा रहे हैं, पेट दुखने लगेगा—यह कह कर लक्ष्मी ने शेष तीन मुट्ठी तण्डुल छीन लिए। इस कथा को अपने शब्दों में भरने के लिए ब्रह्मानन्द जी ने भगवान् का विशेषण दिया है—"कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने"। कमलां कामयते इति कमलाकामः (सुदामा, जैसा कि ऊपर भगवान् ने श्रीकाम: कहा है)। इसका अन्वय सुदामा के साथ करने के लिए विट्ठलेश उपाध्याय ने सुदामैव सौदाम:—ऐसी अघटित कल्पना की है। कतिपय विद्वान् 'कमलाकाम' पदार्थ का 'गेही' के साथ अन्वय करते हैं। ऐसा करने में यद्यपि किसी प्रकार की अन्वयानुपपत्ति नहीं होती, तथापि यहाँ गेही भगवान् कृष्ण हैं, कमला (लक्ष्मी) उनकी नित्य सहचरी है, अप्राप्त की कामना होती है, वे भला कमलाकाम क्योंकर होंगे ? वस्तुत: सुदामा कमलाकाम है और उसकी धर्मपत्नी कमलाकामा, अत: 'कमलाकामश्च, कमलाकामा चानयोरेकशेष:, तयो: कमलाकामयोः सौदामकणाः'—ऐसा अन्वय करके 'लक्ष्मी की कामनावाले स्त्री-पुरुषों के उपहार-स्वरूप सुदामा द्वारा लाए गये कण'—ऐसा अर्थ करना ही संगत प्रतीत होता है ॥ १ ॥

श्रीनारायणतीर्थानां गुरूणां चरणस्मृतिः ।
भूयान्मे साधिकेष्टानामनिष्टानां च बाधिका ॥ २ ॥
अद्वैतसिद्धिव्याख्यानं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा ।
संक्षिप्तचन्द्रिकार्थेन क्रियते लघुचन्द्रिका ॥ ३ ॥

विष्णुः व्यापकं जीवस्वरूपम् । मोक्षं प्राप्त इव, स्वयं विजयते । कीदृशो विष्णुर्मोक्षं प्राप्त इव, तत्राह—"अखण्डधीगोचर" इति । संसर्गाविषयकमनोवृत्तिविशेषविषयीभूत इत्यर्थः ।

ननु तादृशधीविषयत्वं मोक्षप्राप्तिं प्रति नोद्देश्यतावच्छेदकत्वसम्भवः, उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वस्य विधेयगतत्वेन व्युत्पत्तिसिद्धस्य प्रकृते बाधात् । यदा हि तादृशधीविषयीभूत आत्मा, तदा तस्य न मोक्षः, तस्याविद्यारूपबन्धशून्यात्मरूपत्वात् । तदुक्तं वार्तिके "अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः", इति । "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" इति च । अविद्याया अस्तमयः संस्कारादिकार्यरूपेणाप्यनवस्थानम् । सा च स्थूलरूपा संस्कारादिरूपा च । तथा च विदेहताकालीनोऽस्तमय एव मुख्यो मोक्षः । ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मापि विदेहताकालीन एव । जीवन्मुक्तिकालीनस्य ज्ञातत्वोपहितत्वस्यापि कदाचित्सम्भवेन ज्ञातत्वेनो-

---

गुरुवर श्री नारायण तीर्थ के चरणों का स्मरण हमारे (श्री ब्रह्मानन्द के) इष्टार्थ का साधक तथा अनिष्टार्थ का निवर्तक हो ॥ २ ॥

ब्रह्मानन्द भिक्षु के द्वारा अद्वैतसिद्धि की व्याख्या लघुचन्द्रिका बनाई जा रही है, जिसमें पूर्व-रचित 'गुरुचन्द्रिका' नाम की व्याख्या का संक्षेप प्रस्तुत किया गया है ॥३॥

अद्वैतसिद्धि के प्रथम मंगल पद्य में प्रयुक्त 'विष्णु' पद का अर्थ व्यापक जीव है। वह वस्तु-दृष्टया सदा मुक्त होने पर भी मुक्त-जैसा माना जाता है। उस विष्णु का विशेषण है—'अखण्डधीगोचरः, उसका अर्थ है—अन्तःकरण की संसर्गाविषयक (अखण्डाकार) वृत्ति का विषय ।

शङ्का—यहाँ 'अखण्डधीगोचरो विष्णुः, मोक्षं प्राप्त इव'- -इस प्रकार मोक्ष-प्राप्तिरूप विधेयार्थ की उद्देश्यतावच्छेदकता जो अखण्डधीगोचरत्व में प्रतीत होती है, वह सम्भव नहीं, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय में सहज व्युत्पत्ति-सिद्ध समकालीनता का यहाँ बाध हो रहा है। अर्थात् जिस क्षण में आत्मा अखण्ड धी का विषय होता है, उस क्षण में वह मुक्त नहीं कहला सकता, क्योंकि अविद्यारूप बन्ध-शून्य आत्मरूपता ही मोक्ष पदार्थ है, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने कहा है—"अविद्यास्तमयो मोक्षः, सा च बन्ध उदाहृतः" (ब्र० सि० पृ० ११९), "निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः" (त० प्र० ४।८) । अविद्यास्तमय का अर्थ स्थूल और सूक्ष्म (अविद्या-लेश या संस्कार) उभय प्रकार की अविद्या का अभाव है [फलतः बन्ध का सामान्याभाव मोक्ष पदार्थ है, अखण्डाकार वृत्ति भी अविद्या का कार्य है, अतः उसके समय अविद्या का सामान्याभाव कैसे सम्भव होगा ?] । इस प्रकार विदेहता-कालीन अविद्या-सामान्य का अस्तमय ही मुख्य मोक्ष है, जीवन्मुक्ति-कालीन स्थूल अविद्या मात्र की निवृत्ति को मुख्य मोक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि जीवन्मुक्ति में जब अखण्डाकार वृत्ति नहीं अन्य वृत्ति होती है, तब वहाँ ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मरूपता के रहने पर भी, अखण्डाकार वृत्ति के समय ज्ञातत्वविशिष्ट ही आत्मा होता है, ज्ञातत्वोपलक्षित नहीं । अतः सर्वदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मरूपता वहाँ सम्भव नहीं और ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा को मोह-निवृत्तिरूप माना गया

पलक्षितत्वस्य सर्वदा असम्भवात्तदुपलक्षितत्वस्यैव मोहनिवृत्तित्वम्। जीवन्मुक्तौ संस्कारादिरूपेण मोहसत्त्वात् । स्थूलाज्ञाननिवृत्तेस्तत्त्वज्ञानविशेषादिमनःपरिणामरूपतासंभवेन ज्ञातात्मरूपत्वासंभवाच्च। न चोक्तविषयत्वक्षणे एव तादृशाविद्यास्तमयः सम्भवति, चरमधीरूपविद्यावतः क्षणस्याविद्यातत्प्रयुक्तदृश्यविशिष्टकालपूर्वत्वाभावनियमेन सिद्धस्याविद्यास्तमयस्य विदेहताकालीनस्य विद्यावति क्षणे संभवाभावात्, अत आह—"मिथ्याबन्धविधूननेन—विकल्पोज्झित" इति। ब्रह्मात्मैक्याज्ञानरूपबन्धनस्य तादृशास्तमयेन दृश्यशून्य इत्यर्थः। अत्र बन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या तदुच्छेदस्य ज्ञानाधीनत्वज्ञापनेन न ज्ञानोत्पत्तिकालीनत्वमिति ज्ञापितम्। तथा च विधेये उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्वबोधस्यौत्सर्गिकत्वात् सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकपक्षककजन्यतासम्बन्धेन कर्तृसाध्यकानुमितौ निरवच्छिन्ने कर्तरि विधेये तादृशकालावच्छिन्नत्वबाधवत् प्रकृतेऽपि तस्य बाधितत्वान्न तत्र तद्बोधः।

है। जीवन्मुक्ति में तो लेश या संस्कारादि के रूप में मोह बना रहता है। स्थूल अविद्या की निवृत्ति को तो तत्त्वज्ञानात्मक वृत्ति रूप ही माना जा सकता है, ज्ञातात्मरूप नहीं। अखण्डाकार वृत्ति-विषयता के समय आत्मा में अविद्या-सामान्य का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय अविद्यारूप उक्त वृत्ति ही रहती है, अतः विदेहता-कालीन अविद्यास्तमय अखण्ड वृत्ति रूप विद्या के समय कभी नहीं रह सकता, क्योंकि अखण्डाकार चरम वृत्तिरूप विद्या जिस क्षण में उत्पन्न होती है, अविद्या और अविद्या-प्रयुक्त दृश्य की निवृत्ति उसके उत्तर द्वितीय क्षण में होती है, अतः यह निश्चित है कि न तो विद्याक्षण का उत्तर क्षण अविद्या-विशिष्ट हो सकता है और न अविद्या-क्षण के पूर्व विद्या-क्षण हो सकता है, फलतः अविद्या तथा अविद्या-प्रयुक्त दृश्य जगत् से युक्त क्षण की पूर्ववृत्तिता का अभाव विद्या-क्षण में नियत होने के कारण विदेहावस्था में सिद्ध अविद्या-निवृत्ति चरम वृत्तिरूप विद्या के क्षण में सम्भव नहीं।

समाधान—उक्त शङ्का का समाधान करने के लिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा है—"मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः"। इसका अर्थ है—ब्रह्म और आत्मा के अभेद-साक्षात्कार के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य विषयक अज्ञान रूप बंधन का अभाव या कथित अस्तमय हो जाने के कारण आत्मा दृश्य-रहित हो जाता है। यहाँ बन्धन में मिथ्यात्व की उक्ति से ज्ञान के द्वारा बन्धन की उच्छेद्यता ज्ञापित होती है, अतः तत्त्वज्ञान के उत्पत्ति-काल में बन्धनविधूनन न होकर उत्तरभावी द्वितीय क्षण में होता है, अतः अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्तः'—इस प्रकार के उद्देश्यतावच्छेदक (अखण्डधीगोचरत्व) और विधेय (मोक्ष या अविद्यास्तमय) का समकालीनत्व न होना अभीष्ट ही है। 'तब उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय के समकालीनत्व-नियम का उल्लङ्घन क्यों नहीं होता ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त नियम काचित्क है सार्वत्रिक नहीं, उसका विशेष स्थलों पर बाध हो जाया करता है, जैसे—'सर्गाद्यकालीनं द्व्यणुकम्, स्वनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यत्वसम्बन्धेन कर्तृविशिष्टम्, कार्यत्वाद्, घटवत्' इस अनुमान में उद्देश्यतावच्छेदकीभूत सर्गाद्य (सृष्ट्यारम्भ) काल से कर्तारूप विधेय अवच्छिन्न नहीं, क्योंकि कर्तृभूत चैतन्य कालानवच्छिन्न (अनन्त) होता है, अतः यहाँ उक्त नियम का जैसे बाध होता है, वैसे ही 'अखण्डधीगोचरो विष्णुः मोक्षं प्राप्तः'—यहाँ पर भी, क्योंकि समानकालीन पदार्थों का कार्य-कारणभाव बाधित होता है, जैसा कि अद्वैतसिद्धिकार वे आगे

अत्र बन्धविधूननमविद्यातत्कार्यशून्यत्वं दृश्यशून्यत्वं अनादिसाधारणदृश्यशून्यत्वमिति तयोर्भेदः। विधूननेनेति तृतीया ज्ञापकहेतौ न तु कारकहेतौ; न ह्यविद्यायाः अस्तमयो नाम व्यावहारिकध्वंसरूपो विद्याजन्योऽस्मत्सिद्धान्ते स्वीक्रियते। दृश्यान्तरध्वंसो वा तज्जन्यः। तथा सति तस्य निवर्तकाभावेन "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः" इत्यादिश्रुतिबोधितस्य विदुषि सर्वदृश्योच्छेदस्य बाधापत्तेः। तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे हि तत्त्वज्ञानादिसर्वदृश्यनाशोत्पादाद् उक्तक्षणद्वितीयक्षणे उक्तनाशस्य नाशोत्पत्त्यसंभवः। तत्त्वज्ञानजन्यस्य नाशस्यैव तत्त्वज्ञाननाशहेतुत्वे स्वीकृतेऽप्युक्तबाधापत्तेस्तादवस्थ्यात्, तत्त्वज्ञानजन्यस्य दृश्यान्तरनाशस्य तत्त्वज्ञानस्य च यौ नाशौ तयोर्नाशकाभावात्। तयोः स्वनाशकत्वस्वीकारेऽप्युक्तापत्तितादवस्थ्याद्, अप्रामाणिका-

---

चलकर (पृ० १२९८ पर) कहा है—"समसमयस्याजनकत्वात्"।

"बन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः"—यहाँ पर बन्ध-विधूनन और विकल्प-निवृत्ति—दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं अभिन्न नहीं, क्योंकि अविद्या और अविद्या के कार्य की निवृत्ति को बन्ध-विधूनन और अनादि-सादि उभय विध दृश्य-शून्यता को विकल्प-निवृत्ति कहा जाता है। 'विधूननेन'—यहाँ पर तृतीया विभक्ति ज्ञापक हेतु में है, कारक हेतु में नहीं ["कर्तृकरणयोस्तृतीया" (पा. सू. २।३।१८) इस सूत्र से विहित तृतीया विभक्ति साधकतमत्वरूप जनकत्व एवं "इत्थंभूतलक्षणे" (पा. सू. २।३।२१) इस सूत्र से विहित तृतीया ज्ञापकत्व रूप अर्थ की बोधिका मानी जाती है, जैसे जटाभिस्तापसः—यहाँ प्रयुक्त तृतीया तापसत्व-निरूपित जटागत ज्ञापकत्व की बोधिका है, वैसे ही प्रकृत में तृतीया दृश्यशून्यत्व-निरूपित बन्धविधूननगत ज्ञापकत्व को बोधित करती है, क्योंकि] जैसे 'विद्यया अविद्यास्तमयः'—यहाँ पर विद्या से जन्य कोई व्यावहारिक अविद्या-ध्वंस अद्वैत वेदान्त में नहीं माना जाता, अपितु अविद्या-ध्वसं ब्रह्मरूप ही माना जाता है, ब्रह्मरूप अविद्या-निवृत्ति की जनकता विद्या में सम्भव नहीं वैसे ही 'बन्धविधूननेन दृश्यनिवृत्तिः'—यहाँ पर भी बंधध्वंस से जनित दृश्यान्तररूप दृश्य-ध्वंस नहीं माना जाता, अतः उस की जनकता भी बन्धविधूनन में सम्भव नहीं। यदि विद्या से जन्य कोई व्यावहारिक अविद्या-ध्वंस माना जाता है, तब वह नित्य होकर द्वैतापादक हो जायगा, और "विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः" (मुं. ३।२।८) इस श्रुति से बोधित तत्त्वज्ञनिष्ठ सर्वदृश्योच्छेद का बाध भी हो जायगा। विद्योत्पत्ति के द्वितीय क्षण में तत्त्वज्ञानादि समस्त दृश्य का नाश हो जाता है, अतः तृतीय क्षण में उत्पन्न उक्त व्यावहारिक अविद्यास्तमय का नाश न हो सकेगा, फलतः वह नित्य हो जायगा। यदि तत्त्वज्ञान से जन्य अज्ञान-ध्वंस को ही तत्त्वज्ञान का नाशक माना जाता है, अतः द्वितीय क्षण में अनुवृत्त तत्त्वज्ञान ही तृतीयक्षणवृत्ति उक्त दृश्यान्तररूप दृश्य-ध्वंस का नाशक हो जाता है, तब भी उक्त श्रुति-बोधित मुक्तात्मा में नामरूप विमुक्ति का बाध उपस्थित होता है, क्योंकि द्वितीय क्षण में अनुवृत्त तत्त्वज्ञान के द्वारा जो दृश्यान्तर (तत्त्वज्ञानातिरिक्त दृश्य-वर्ग और तत्त्वज्ञान के जो दो ध्वंस उत्पन्न किए जाते हैं, उनका कोई नाशक न होने के कारण मुक्त आत्मा में वे ही बने रहते हैं। उन ध्वंसो को अपना ध्वंसक मानने पर भी उक्त श्रुत्यर्थ-का बाध प्रसक्त होता है, क्योंकि तत्त्वज्ञान-ध्वंस का ध्वंस और दृश्यान्तर-ध्वंस का ध्वंस अपने नाशक के अभाव में विद्यमान रहता है। अप्रामाणिक अनन्त ध्वंसों की कल्पना गौरव-ग्रस्त भी है, इसलिए चरम अखण्डाकार

मस्तनाशकल्पने गौरवाच्च । तस्माच्चरमतत्त्वज्ञानस्य दृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावनियम एव स्वीक्रियते, न तु नाशहेतुत्वम् । यत्तु बद्धपुरुषैः प्रातीतिकमस्तमयादिकं कल्प्यते न तस्य नाशहेतुत्वम् ।

यद्यपि ज्ञापकहेतुत्वमपि दृश्यास्तमयं प्रत्यविद्यास्तमयत्वेन नास्ति, जीवन्मुक्ते प्रातीतिकाविद्यास्तमये तद्व्यभिचारित्वात् , जीवन्मुक्ते प्रातीतिकस्य दृश्यास्तमयस्य कल्पने नियमाभावात् । तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्वरूपेणाविद्यास्तमयस्य दृश्यास्तमयं प्रत्यस्त्येवेति ध्येयम् ।

अथवा मास्तु प्रातीतिकं तादृशाविद्यास्तमयादिकम् । अविद्योच्छेदोपलक्षितः पूर्णानन्दरूप आत्मा मोक्षः । अविद्योच्छेदश्च तदीयस्थूलसूक्ष्मरूपाश्रयकालपूर्वत्वाभावः सर्वदृश्याश्रयकालपूर्वत्वाभावरूपेण दृश्योच्छेदेन व्याप्यः । मोक्षस्य दृश्योच्छेदोपलक्षितात्मरूपकैवल्यरूपत्वात् ।

यद्वा ननु दृश्योच्छेदस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिक्षणे न सम्भवति । अनादिदृश्यानां ज्ञानानुच्छेद्यत्वादविद्यातत्कार्ययोरेव तदुच्छेद्यत्वात् , तत्राह—मिथ्याबन्धेति । मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झित इति योजना । तथा चाविद्योच्छेदेन दृश्योच्छेदवानित्यर्थलाभाद् अविद्योच्छेदस्य दृश्योच्छेदव्याप्यतालाभेनाविद्यारूपबन्धस्य मिथ्यात्वोक्त्या

वृत्ति को अविद्यादि के ध्वंस का हेतु नहीं माना जाता, अपितु चरम तत्त्वज्ञान-क्षण में दृश्याश्रयीभूत काल के पूर्ववृत्तित्व का अभाव ही नियमतः स्वीकृत है। फलतः उक्त तृतीया विभक्ति ज्ञापकत्वार्थ की ही बोधिका स्थिर होती है, जनकत्व-बोधिका नहीं। यहाँ जनकत्वरूप हेतुत्व का समर्थन करने के लिए जो मुक्त पुरुष में बद्ध पुरुषों के द्वारा अविद्या का प्रातीतिक ध्वंस माना जाता है, वह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रातीतिक अविद्या-ध्वंस दृश्य के नाश का जनक नहीं माना जाता है।

यद्यपि दृश्य-ध्वंस की ज्ञापकता अविद्यास्तमय में अविद्यास्तमयत्वेन नहीं होती, क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुषगत प्रातीतिक अविद्यास्तमय में दृश्य-नाशकता न होने के कारण व्यभिचार होता है। जीवन्मुक्त में प्रातीतिक दृश्यास्तमय की भी नियमतः कल्पना में कोई नियामक नहीं। तथापि दृश्यास्तमयकालीनत्व रूप से अविद्यास्तमय में दृश्यास्तमय की ज्ञापकता सम्भव है।

अथवा उक्त प्रातीतिक अविद्यास्तमय और दृश्यास्तमय के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, अविद्योच्छेद से उपलक्षित पूर्णानन्द रूप आत्मा मोक्ष पदार्थ है। अविद्योच्छेद का अर्थ है—स्थूल-सूक्ष्मात्मक अविद्या के आश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव तथा दृश्योच्छेद का अर्थ सर्वदृश्याश्रयीभूत काल का पूर्वत्वाभाव, जैसे वह्नि का धूम व्याप्य और ज्ञापक होता है, वैसे ही उक्त अविद्योच्छेद दृश्योच्छेद का व्याप्य एवं ज्ञापक होता है, क्योंकि मोक्ष में अविद्योच्छेदात्मरूपता के समान ही दृश्योच्छेदोपलक्षित आत्मरूपता भी रहती है।

अथवा 'दृश्योच्छेद तत्त्वज्ञानोत्पत्ति के क्षण में सम्भव नहीं, क्योंकि अनादि दृश्य का ज्ञान से उच्छेद नहीं हो सकता, केवल अविद्या और अविद्या के कार्य का ही विद्या से उच्छेद होता है'—इस आक्षेप का समाधान करने के लिए कहा गया है—"मिथ्याबन्धेत्यादि"। 'मिथ्याबन्धविधूननेन विकल्पोज्झितः'—ऐसी योजना पूर्ववत् ही है, जिसका अर्थ है—'अविद्योच्छेद-प्रयुक्त दृश्योच्छेदवान्', इससे अविद्योच्छेद में दृश्योच्छेद की

अविद्याप्रयुक्तदृश्यमात्रस्य मिथ्यात्वलाभेनानादिदृश्यानामपि ज्ञानोच्छेदलाभादुक्तव्याप्यतायाः सम्भवः। तथा च सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षितपरमानन्दरूपात्मरूपकैवल्यप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्तरमेव न तत्क्षण इति नोद्देश्यतावच्छेदकधीविषयत्वकालीनत्वं विधेये मोक्षलाभे विवक्षितम्। उज्झित इति निष्ठाप्रत्ययेनोच्छेदस्यातीतकाले मोक्षप्राप्तेर्लाभात् अत्यन्ताभावत्वविशिष्टरूपस्योच्छेदस्यापि दृश्यत्वात्तादृशे मोक्षकाले तस्यातीतत्वादिति भावः।

मोक्षं कीदृशं तत्राह—"परमेत्यादि"। निरतिशयापरिच्छिन्नसुखमात्रस्वरूपमित्यर्थः। ननु मुक्तस्य प्रकाशकाभावेन प्रकाशत इत्यर्थकं विजयत इत्ययुक्तम् तत्राह—स्वयमिति। प्रकाशकसम्बन्धं विनैवेत्यर्थः।

नन्वेवं विजयत इत्यनुपपन्नम्, तस्यापि प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वात्, स्वयमित्यस्य प्रकाशान्तरं विनेत्यर्थकत्वेन विजयत इत्यस्य स्वात्मप्रकाशसम्बन्धार्थकत्वेऽपि विष्णोर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वापत्तिः। अथ विजयत इत्यस्योत्कर्षान्तरमेवार्थः न तु

व्याप्यता का लाभ होता है। अविद्यारूप बन्धन में मिथ्यात्व के कथन से अविद्या-प्रयुक्त दृश्यमात्र (सादि और अनादि-उभयविध दृश्य) में मिथ्यात्व अधिगत हो जाता है, मिथ्यात्व का अर्थ ज्ञानोच्छेद्यत्व है, अतः अनादि दृश्य में भी ज्ञानोच्छेद्यता का लाभ हो जाने के कारण उक्त व्याप्य-व्यापकभाव संघटित हो जाता है। इस प्रकार भी सर्वदृश्योच्छेदोपलक्षित परमानन्दात्मरूप कैवल्य की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के उत्तर क्षण में ही सिद्ध होती है, तत्त्वज्ञान-क्षण में नहीं, अतः यहाँ अखण्डधीविषयत्वरूप उद्देश्यतावच्छेदक और मोक्ष-प्राप्ति रूप विधेय में समानकालीनत्व विवक्षित नहीं। 'उज्झितः' पद में निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय' का प्रयोग हुआ है, जो कि "निष्ठा" (पा० सू० ३।२।१०२) इस सूत्र के द्वारा भूतार्थवृत्ति धातु से विहित है, अतः अविद्योच्छेद के अतीत क्षण में ही मोक्ष-प्राप्ति निश्चित होती है, विद्या-क्षण में तो अविद्योच्छेद वर्तमान है, अतीत नहीं, फलतः तत्त्वज्ञान के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष-प्राप्ति माननी होगी। अत्यन्ताभावरूप उच्छेद भी दृश्य है, अतः उसका मोक्ष-काल में अतीत हो जाना असंगत नहीं।

कैसा मोक्ष ? इस आकांक्षा को दूर करने के लिए कहा गया है—"परमानन्दैकतानात्मकम्।" उसका अर्थ है—निरतिशय (तारतम्य-रहित, जिसका निरूपण ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण में किया गया है) और अपरिच्छिन्न सुखस्वरूपता। 'उक्त पद्य में प्रयुक्त 'विजयते' पद का अर्थ होता है—प्रकाशते, किन्तु मुक्तावस्था में सूर्यादि समस्त दृश्य का उच्छेद हो जाने के कारण मुक्त पुरुष का कोई प्रकाशक न होने के कारण 'प्रकाशते' (प्रकाश-सम्बन्धो)—ऐसा कहना क्योंकर संगत होगा ?'—इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा है—"स्वयम्", जिसका अर्थ है—'अन्यकर्तृक प्रकाश की विषयता के बिना प्रकाशमान' [परप्रकाशभूत घटादि के लिए 'घटः प्रकाशते' तभी कहा जा सकता है, जब दीपादि का प्रकाश घट पर पड़े, किन्तु स्वयंप्रकाश आत्मा को अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती]।

शङ्का—'स्वयं प्रकाशते' के अर्थ में भी 'विजयते' का प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि 'स्वयं प्रकाशते' का अर्थ होता है—अन्य प्रकाशक-निरपेक्ष प्रकाश का आश्रय। मोक्षावस्था में प्रकाशक के समान प्रकाश भी नहीं रहता। 'स्वयम्' पद के प्रभाव से 'स्वात्मक प्रकाश-सम्बन्धी'—ऐसा अर्थ करने पर विष्णु में दृश्यत्व की प्रसक्ति होती है [क्योंकि चैतन्यात्मक प्रकाश का विषयतारूप सम्बन्ध होने के कारण ही घटादि

प्रकाशसम्बन्धः, तदा प्रकाशमानानन्दरूपत्वालाभेन मोक्षस्य प्रयोजनत्वालाभः, तत्राह—"सत्यज्ञानसुखात्मक" इति। यथात्मन आनन्दत्वेनानन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इवेत्युक्तम्, अत एवानन्दावाप्तिबोधकश्रुतेरनावृतानन्दैक्यमर्थो, न त्वानन्दसम्बन्धः, तथा प्रकाशरूपत्वेन विष्णोः प्रकाशत इत्यस्यानावृत्तचिदभेदबोधकत्वम् न तु प्रकाशसम्बन्धार्थकत्वम्। तथा च दृश्यत्वाभावात् न मिथ्यात्वापत्तिः। न च प्रकाशरूपतोक्तिर्व्यर्थेति वाच्यम्; अपरोक्षव्यवहारयोग्यसुखस्यैव पुरुषार्थत्वम्। उक्तयोग्यत्वं चानावृतचिद्रूपत्वेन तादृशचित्तादात्म्येन वा। तत्रोक्तरूपानन्दस्यान्त्यभावेऽप्याद्यमस्तीति ज्ञापनार्थत्वेन तस्याः सार्थकयात्। ननु ज्ञानस्याज्ञानतत्कार्यविरोधितायाः शुक्त्यादिज्ञानस्थले दृष्टतया युक्तत्वेऽप्यनादिसाधारणदृश्यमात्रविरोधित्वमदृष्टचरत्वान्न युक्तम्, तत्राह—"माये"त्यादि। मायया कल्पितं प्रयुक्तम्, अत एव मृषाभूतं यत्प्रमातृतामुखं प्रमातृत्वादिरूपं द्वैतमात्मभिन्नं तदभिन्नप्रपञ्चाश्रय इत्यर्थः। तथा च शुक्त्या-

---

को दृश्य माना जाता है, वही सम्बन्ध जब विष्णुरूप चैतन्य तत्त्व में है, तब वह दृश्य और दृश्यत्वेन मिथ्या क्यों न होगा ?]। यदि विजयते पद के द्वारा 'प्रकाशरूपप्रकर्षाश्रय:'—ऐसा अर्थ न कर कोई अन्य अप्रकाशात्मक उत्कर्ष की आश्रयता का ग्रहण किया जाता है, तब मुक्ति में प्रकाशमान आनन्दरूपता का लाभ न होने के कारण पुरुषार्थता (पुरुषाभिलाषा) का लाभ नहीं होता, क्योंकि अप्रकाशमान वस्तु की इच्छा किसी को नहीं होती।

समाधान—उक्त आशङ्का का समाधान करने के लिए मूलकार ने कहा है—"सत्यज्ञानसुखात्मक:"। जैसे आत्मा आनन्दरूप होने के कारण 'आनन्दरूपं मोक्षं प्राप्त इव'—ऐसा कहा जाता है, अत: 'आनन्दी भवति'—इत्यादि आनन्दावाप्ति-बोधक श्रुतियों का अनावृतानन्दरूपता में तात्पर्य होता है, आनन्द-सम्बन्ध में नहीं, वैसे ही विष्णु प्रकाशरूप है, अत: 'प्रकाशते' पद अनावृतप्रकाशरूपता का ही बोधक माना जाता है, प्रकाश-सम्बन्ध का नहीं। फलत: विष्णुतत्त्व में प्रकाश-सम्बन्धित्वरूप दृश्यत्व-प्रसक्त न होने के कारण मिथ्यात्वापत्ति नहीं होती। प्रकाशरूपता का कथन व्यर्थ क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपरोक्ष व्यवहार-योग्य सुख ही पुरुषार्थ माना जाता है। अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता अनावृतचिद्रूपत्व या अनावृतचित्तादात्म्य होने के कारण ही सम्भव होती है ['अपरोक्षं ब्रह्म'—इस व्यवहार का निर्वाहक ब्रह्मगत अनावृतचिद्रूपत्व और अपरोक्षो घट:'—इस व्यवहार का साधक घट में अनावृतचित् का तादात्म्य (विषयत्व) होता है]। उक्तरूप आनन्द में द्वितीय न होने पर भी प्रथम (अनावृतचिद्रूपत्व) है—इस आशय को प्रकट करने के लिए उक्त प्रकाशरूपता का अभिधान सार्थक है।

शङ्का—ज्ञान में अज्ञान और अज्ञान के कार्य की विरोधिता शुक्ति-रजतादि स्थल पर देखी जाती है, अत: उसके युक्त होने पर भी अनादि-साधारण समस्त दृश्य की विरोधिता अदृष्टचर होने के कारण अयुक्त है।

समाधान—उक्त शङ्का को दूर करने के लिए मूल में कहा गया है—"मायेत्यादि"। माया द्वारा कल्पित (प्रयुक्त) होने के कारण मिथ्याभूत जो प्रमातृत्वादि द्वैत प्रपञ्च, उसका आश्रय (विष्णु) है। [सामान्य निमित्त को प्रयोजक कहा जाता है चाहे वह किसी का जनक हो या पोषक, जैसे शुक्त्यज्ञान के न होने पर न तो

ध्यज्ञानस्येव चिन्निष्ठतत्सम्बन्धादेरपि तत्प्रयुक्तत्वेन शुक्त्यादिज्ञानस्य तद्विरोधिताया दृष्टतया ब्रह्मज्ञानस्यापि ब्रह्माज्ञानप्रयुक्तदृश्यमात्रविरोधित्वं युक्तमिति भावः। मृषा द्वैताश्रयत्वोक्त्या मुमुक्षावानधिकारी सूचितः।

ननु अखण्डब्रह्माकारज्ञानस्य दृश्योच्छेदकत्वे आपातज्ञानरूपस्यापि तस्य तत्स्यात् , तत्राह—"श्रुतिशिखोत्थेति"। श्रुतीनां कर्मोपासनाकाण्डरूपाणामुपकार्यत्वेन शिखेव मुख्यं यन्महावाक्यं तज्जनितेत्यर्थः। तथा च निष्कामकर्मोपासनानुष्ठापनद्वारकचित्तशुद्धिचित्तैकाग्रताद्वारोक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तदिति भाव ॥ १ ॥

परममङ्गलरूपां परब्रह्मरूपविषयप्रयोजनोक्तिं संपाद्य परमगुरुगुरुविद्यागुरून् प्रणमति "श्रीरामे"त्यादि। ऐश्वर्येन आत्मैक्येन। माधवानां परब्रह्मणाम् ॥ २ ॥

ममात्मंभरितां मन्निष्ठां स्वार्थसम्पादकताम्। भावयितुं जनयितुम् , एष श्रमः एतद्ग्रन्थसम्पादनम्। परोक्तदूषणोद्धारपूर्वकस्वमतपरिच्छेदविशेषस्यैतद्ग्रन्थे क्रिय-

---

शुक्तिरजत की उत्पत्ति हो सकती है और न शुक्त्यज्ञान का चैतन्य के साथ सम्बन्ध रह सकता है, शुक्त्यज्ञान जहाँ रजत का जनक है, वहाँ चैतन्य के साथ अपने सम्बन्ध का पोषक। यद्यपि अज्ञान-चैतन्य-सम्बन्ध अनादि है, अज्ञान से जन्य नहीं, तथापि अज्ञान से पोषित होने के कारण अज्ञान-प्रयुक्त माना जाता है, अतः] जैसे शुक्ति-ज्ञान शुक्त्यज्ञानरूप तूलाज्ञान का विरोधी होने के कारण अज्ञान-प्रयुक्त चिन्निष्ठ अज्ञान-सम्बन्ध का विरोधी है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान भी ब्रह्माज्ञान-प्रयुक्त सादि-अनादि उभय विध दृश्यमात्र का विरोधी होगा। मिथ्या द्वैत की आश्रयता के कथन से इस अद्वैतसिद्धि के मुमुक्षावान् अधिकारी को सूचित किया गया है [जब किसी पुरुष को यह ज्ञान होगा कि मैं प्रमातृत्वादि मिथ्या प्रपञ्च का आश्रय हूँ, तब उसकी जिहासारूप मुमुक्षा उत्पन्न होगी और इस ग्रन्थ के श्रवण में प्रवृत्त हो जायगा]।

अखण्ड ब्रह्मविषयक सामान्य ज्ञान यदि दृश्य का उच्छेदक होता है, तब श्रवणादि साधनों के विना आपाततः जायमान ज्ञान भी दृश्य का उच्छेदक क्यों नहीं होता ? इस शङ्का का समाधान करने के लिए सिद्धिकार ने अखण्ड धी का विशेषण दिया है—"श्रुतिशिखोत्था"। जैसे दीप-शिखा की प्रकाशन-क्षमता में तैल, वर्ती और पात्र का पूर्ण सहयोग होता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि'—इत्यादि महावाक्यों की स्वार्थ-प्रकाशन-क्षमता में कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड की उपकारिता निश्चित है, क्योंकि निष्काम कर्म के अनुष्ठान से अन्तः करण शुद्ध होता है, शुद्ध अन्तःकरण में अहैतुकी भक्ति के सम्पादन से एकाग्रता आती है और एकाग्र अन्तःकरण में तत्त्वं पदार्थ-परिशोधनपूर्वक श्रुत महावाक्यों के द्वारा वह ज्ञान ज्योति उदय होती है, जो समूल द्वैत ध्वान्त को सदा के लिए समाप्त कर डालती है ॥ १ ॥

इस ग्रंथ का अज्ञात ब्रह्म विषय और ज्ञात ब्रह्म प्रयोजन (मुक्तिरूप) है, उसका प्रतिपादक होने से प्रथम पद्य अत्यन्त मंगलमय है, ग्रंथकार परम मंगल सम्पादन करने के पश्चात् क्रमशः अपने परम (गुरु के गुरु), दीक्षा-गुरु और विद्या-गुरु को प्रणाम करता है—"श्रीरामेत्यादि"। 'ऐश्वर्येन साक्षात्कृतमाधवानाम्' का अर्थ है—जिन गुरुजनों ने अपने आत्मा से अभिन्नरूप में माधव (मायापति) परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उनके चरणों की धूलि को नमस्कार है ॥ २ ॥

'ममात्मंभरिताम्' का अर्थ है—मेरे (मधुसूदन सरस्वती के) आत्मभरण (स्वार्थ) की सम्पादकता, उसको भावयितुं (उत्पन्न) करने के लिए यह श्रम (इस

माणस्यातिलोकोत्तरत्वेनान्यैरेतद्ग्रन्थदर्शनात् पूर्वमज्ञातत्वेनाकामितत्वान्मयैव पूर्वं कामितमुक्तपरिच्छेदरूपं फलं भावयिष्यत्ययं ग्रन्था नान्यै कामितमिति भावः ॥ ३ ॥

सिद्धिः निश्चयः, इयं एतद्ग्रन्थाधीना,

"सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् ।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥"

इति एतद्ग्रन्थीयसमाप्तिस्थानीयपद्यस्थसिद्धिपदान्यपि तत्तद्ग्रन्थाधीननिश्चयपराण्येव । परिच्छेदसमाप्त्यादिस्थले सिद्धिपदं साधकग्रन्थपरं निश्चयपरमेव वा । अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमपरिच्छेद इत्याद्यर्थकत्वसम्भवेन लक्षणायां मानाभावात् । अस्मदादिभिस्तु स्वकीयसङ्केतविशेषेणास्मिन् ग्रन्थे अद्वैतसिद्धिपदं प्रयुज्यते ॥ ४ ॥

पूर्वकत्वादिति । (१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे"त्यादिश्रुत्या जायमाने अद्वैतत्वोपलक्षितब्रह्मनिर्विकल्पकनिश्चये ब्रह्मणि द्वैताभावविशिष्टबुद्धेर्द्वारत्वात् , तस्याश्च निषेधत्वेन प्राप्तिपूर्वकत्वेन द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतवत्त्वकालावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयक-

---

ग्रन्थ का निर्माण) किया गया है । भाव यह है कि इस ग्रन्थ में जो अद्वैतवेदान्त पर द्वैतवादियों के द्वारा प्रदत्त दोषों का उद्धार और अद्वैत मत का परिष्कार किया गया है, वह इतना लोकोत्तर है कि अभी तक किसी अन्य व्यक्ति को ज्ञात ही नहीं था, अत एव दूसरा व्यक्ति इसकी इच्छा नहीं कर सका, पहली बार मुझे (मधुसूदन सरस्वती को) ही इसकी इच्छा हुई, अतः मेरे इस स्वार्थ (अभीष्ट अर्थ) का ही यह ग्रन्थ साधक है ॥ ३ ॥

चतुर्थ पद्य में प्रयुक्त 'सिद्धि' पद का अर्थ है—निश्चय अद्वैत-निश्चयात्मक सिद्धि इस ग्रन्थ के अधीन होने के कारण यह ग्रन्थ भी सिद्धि कहलाता है । इस ग्रन्थ के अन्त में जो यह पद्य आया है—

सिद्धीनामिष्टनैष्कर्म्यब्रह्मगानामियं चिरात् ।
अद्वैतसिद्धिरधुना चतुर्थी समजायत ॥

इसमें प्रयुक्त 'सिद्धि' पदों का भी निश्चय ही अर्थ है, जो कि उन ग्रन्थों के अधीन होता है । परिच्छेद की समाप्ति पर जो कहा गया है—'अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः ।' वहाँ 'सिद्धि' पद निश्चयात्मक सिद्धि के साधकीभूत इस ग्रंथ का बोधक है अथवा वह भी निश्चयपरक ही माना जा सकता है, अतः 'अद्वैतसिद्धौ प्रथमः परिच्छेदः'—इस वाक्य का अर्थ होता है—अद्वैतनिश्चयोपयोगी प्रथमः परिच्छेदः, अतः कहीं पर भी 'सिद्धि' पद की ग्रन्थादि में लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं । हम लोग तो अपने आधुनिक संकेत के आधार पर इस ग्रंथ के लिए 'सिद्धि' पद का प्रयोग करते हैं ॥ ४ ॥

मूल ग्रन्थ में जो यह कहा गया है कि 'अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्' । उसका सामञ्जस्य तीन स्थलों पर किया जाता है—

(१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छां० ६।२।१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जायमान द्वैताभावोपलक्षितब्रह्मविषयक निर्विकल्पक निश्चय में 'ब्रह्म द्वैताभाववत्'—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि द्वार है, क्योंकि उपलक्ष्यभूत धर्मी के ज्ञान में उपलक्षणीभूत धर्मविशिष्ट-बुद्धि हेतु मानी जाती है । द्वैताभाव-विशिष्ट-बुद्धि द्वैतनिषेधात्मक होने के कारण द्वैत-प्राप्ति की नियमतः अपेक्षा करती है, फलतः 'द्वैतवद्ब्रह्म द्वैताभाववत्'—इस प्रकार द्वैताभावरूप विधेयार्थ में द्वैतवत्त्वरूप उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान

त्वात्, "सदेव सोम्येदमग्र आसी"दिति पूर्ववाक्ये इदं शब्दार्थद्वैतसामान्यतादात्म्यस्य लब्धत्वेन तस्य द्वैताभावांशे उद्देश्यतावच्छेदकत्वेन तत्र तत्कालावच्छेद्यत्वभानस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वाद्, इदमात्मकसतोऽग्रकालसत्त्वस्य द्वैताभाववत्त्वस्य च द्वयोर्विधाने वाक्यभेदस्येष्टत्वात्, द्वैतवति द्वैताभावबोधस्याहार्यत्वेन शाब्दत्वासम्भवेऽपीदं पदस्य दृश्यत्वरूपेण द्वितीयपदस्य चात्मभिन्नत्वरूपेण बोधकत्वेनाहार्यत्वाभावात्, कालान्तरावच्छेदेन द्वैताभाववत्त्वविषयकश्चियश्च "तरति शोकमात्मवित्", "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः", "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै"रित्यादिश्रुतिभिः ज्ञाननाश्यत्वानुमापकदृश्यत्वलिङ्गादिरूपमानान्तरेण च सिद्धत्वेन तज्जनने वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः, एककालावच्छिन्नं प्रतियोग्यभावयोरेकाधिकरणवृत्तित्वधीरूपो मिथ्यात्वनिश्चयः।

नैसर्गिक है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्"—इस वाक्य के पूर्ववर्ती "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छां० ६।२।१) इस वाक्य में 'इदं' पद के द्वारा ब्रह्मगत सामान्य द्वैत-तादात्म्य या द्वैतवत्त्व का बोधन किया जाता है, वह द्वैतवत्त्व द्वैताभावरूप विधेय का उद्देश्यतावच्छेदक है, विधेय में उद्देश्यतावच्छेदककालावच्छिन्नत्व का भान नैसर्गिक होता है—यह कहा जा चुका है। [यदि "सदेव सोम्येदमग्र आसीद् अद्वितीयम्—यहाँ पर 'इदमात्मक सत्' पदार्थ के उद्देश्य से द्वैताभाव का विधान किया जाता है, तब उसी के उद्देश्य से अग्रे आसीत् (अग्रकाल-सत्त्व का भी विधान करना होगा, तब एक पदार्थ के उद्देश्य से अनेक पदार्थों का विधान करने पर "प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः" (तं. वा. पृ० ४८५) इस वार्तिक-वचन के अनुसार वाक्य-भेद दोष क्यों नहीं ?' इस शङ्का के समाधान में कहा गया है कि] प्रकृत में इदमात्मक सद् (ब्रह्म) के उद्देश्य से अग्रकाल-सत्त्व तथा द्वैताभाव—उभय के विधान करने पर वाक्य-भेद इष्ट ही है, अर्थात् उक्त स्थल पर दो ही वाक्य माने जाते हैं, एक वाक्य नहीं। यद्यपि द्वैतवत्त्वोद्देश्यतावच्छेदकद्वैताभावविधेयक (द्वैतवद् ब्रह्म द्वैताभाववत्—ऐसा) बोध आहार्य (भ्रमात्मक) कहलाता है [आहार्य ज्ञान का लक्षण किया गया है—स्वविरोधिधर्मधर्मितावच्छेदककस्वप्रकारकत्व, यहाँ द्वैताभाव का विरोधी 'द्वैतवत्त्व' धर्म उद्देश्यतावच्छेदक है और द्वैताभाव प्रकार है]। शाब्दबोध आहार्यात्मक नहीं माना जाता। तथापि उद्देश्यपरक 'इदं' पद दृश्यत्वेन द्वैत का बोधक और विधेय-घटक 'द्वैत' पद आत्मभिन्नत्वेन द्वैत का समर्पक है, अतः 'दृश्यवद् ब्रह्म आत्मभिन्नाभाववत्'—ऐसा बोध आहार्यात्मक न होने के कारण शाब्दबोध कहला सकता है [आत्मभिन्नाभाव का दृश्यवत्त्व शब्दतः विरोधी नहीं, आर्थिक विरोध तो अभीष्ट ही है, अन्यथा उससे मिथ्यात्व-निश्चय क्योंकर होगा ? क्योंकि समानकालीन विरोधिभावाभावविषयक निश्चय का नाम ही मिथ्यात्व-निश्चय होता है, उसी को उत्पन्न करने में 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस वाक्य का सार्थक्य भी माना जाता है]। द्वैतकाल से भिन्नकालीन द्वैताभाव का निश्चय तो "तरति शोकमात्मवत्" (छां० (७।१।३), "विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः" (मुं० ३।२।८) तथा "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" (श्वेता० ४.१६) इत्यादि श्रुतियों और "द्वैतम्, ज्ञाननाश्यम्, दृश्यत्वात्"—इत्यादि अनुमानों से भी हो सकता है, उसी के उत्पन्न करने में "एकमेवाद्वितीयम्—इस वाक्य का वैयर्थ्य प्रसक्त होता है। परिशेषतः इस वाक्य के द्वारा समानकालीन द्वैत और द्वैताभाव का निश्चयरूप द्वैत-मिथ्यात्व का निश्चय हो जाने पर ही अद्वैत-सिद्धि होती है।

अथवा मिथ्यात्वघटकस्याभावस्य सदा सर्वत्र विद्यमानत्वेनावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वेन मिथ्यात्वं नोक्तरूपम्, किन्तु तादृशान्यत्वविशिष्टेनाभावेन घटितम्। तथा च प्रत्यक्षादिप्रमाणस्याद्वैतश्रुतिबाध्यत्वेन ब्रह्मणि कालविशेषाद्यवच्छिन्नद्वैताभावबोधकत्वरूपे श्रुतिसङ्कोचे हेतोरभावेन तादृशाभावस्य त्रैकालिकत्वनिश्चयात्।

(२) सार्वज्ञ्यसर्वकार्योपादानत्वबोधकश्रुतेरपि लक्षणवाक्यविधया निर्विकल्पकनिश्चयजनकत्वेऽपि तत्र तादृशनिश्चयस्य सर्वद्वैततादात्म्यविशिष्टधीपूर्वकत्वात्, सर्वतादात्म्यस्यैव ब्रह्मणि सर्वविषयकत्वरूपत्वात् सर्वोपादानत्वस्य ब्रह्मणि स्वात्मकसर्वजनकरूपत्वाद्, "एकमेवाद्वितीय"मिति, "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः", "तस्मादेतद् ब्रह्मनामरूपमि"ति श्रुतिद्वये लक्षणादिवृत्त्या द्वैतवत्परब्रह्मनिष्ठस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वरूपत्रैकालिकत्वविशिष्टात्यन्ताभावस्य प्रतियोगि द्वैतमिति धीरूपो मिथ्यात्वनिश्चय इति। तत्पूर्वकत्वमुक्तनिर्विकल्पकनिश्चये आवश्यकम्।

(३) महावाक्यजन्याद्वैतनिश्चयस्यापि, "नेह नानास्ति किञ्चन", "नात्र काचन

अथवा मिथ्यात्व के "प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्"—इस लक्षण का घटकीभूत अत्यन्ताभाव सार्वदिक और सार्वदेशिक होता है, ऐसे अभाव का न कोई काल अवच्छेदक होता है और न कोई देश, अतः द्वैताभाव में द्वैतकालावच्छिन्नत्व कहना सम्भव न हो सकने के कारण मिथ्यात्व का लक्षण करना होगा—'स्वाश्रयनिष्ठावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वविशिष्टस्वाभावप्रतियोगित्वम्।' मिथ्याभूत द्वैत प्रपञ्च स्वपदार्थ है, उसके आश्रयीभूत ब्रह्म में विद्यमान अवच्छिन्नवृत्तिकान्यत्व-विशिष्ट (निरवच्छिन्नवृत्तिक) द्वैताभाव का प्रतियोगित्व ही द्वैतगत मिथ्यात्व है। 'घटः सन्' 'पटः सन्'—इत्यादि प्रत्यक्ष परीक्षितप्रामाण्यक अद्वैतागम के द्वारा बाधित (इसी ग्रंथ के पृ० १३८ पर कथित) हो जाता है, अतः प्रत्यक्ष के अनुरोध पर द्वैत प्रपञ्च की किसी काल में सत्ता मानकर 'एकमेवाद्वितीयम्'—इस श्रुति का त्रैकालिक द्वैताभाव के बोधन में तात्पर्य न मान कर कालविशेषावच्छेदेन द्वैताभाव-बोधनरूप संकुचितार्थ में पर्यवसान नहीं किया जा सकता, फलतः इस श्रुति के द्वारा द्वैताभाव में त्रैकालिकत्व का निश्चय हो जाता है।

(२) "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुं० १।१।९), "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपम्" (मुं० १।१।९) इत्यादि सार्वज्ञ्य और सर्वकार्योपादानत्व की बोधक श्रुतियाँ भी लक्षण-वाक्य के रूप में ब्रह्मविषयक निर्विकल्पकनिश्चयात्मक अद्वैत-सिद्धि की जनक मानी जाती हैं। वहाँ भी वह निश्चय तभी हो सकता है, जब कि ब्रह्म में सर्व द्वैत का तादात्म्य निश्चय हो, क्योंकि ब्रह्म में सर्वतादात्म्य को सर्ववित्त्व (सर्व विषयकत्व) और ब्रह्म में स्वतादात्म्यापन्नसर्व-जनकत्व को सर्वोपादानत्व माना जाता है। यद्यपि उक्त श्रुति-वाक्यों में कोई द्वैताभाव-बोधक पद प्रयुक्त नहीं, तथापि "एकमेवाद्वितीयम्"—इस श्रुति से एकवाक्यतापन्न उक्त श्रुतियों के द्वारा लक्षणादि वृत्ति अपनाकर द्वैत-विशिष्ट ब्रह्मवृत्ति निरवच्छिन्नवृत्तिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्वरूप द्वैत में मिथ्यात्व का निश्चय हो जाता है। फलतः उक्त श्रुतियों से जन्य अद्वैत-सिद्धि भी द्वैत-मिथ्यात्व-निश्चयपूर्वक ही होती है।

(३) "तत्त्वमसि" (छां० ६।१४।३) इत्यादि महावाक्यों से जन्य अद्वैत-निश्चय भी तभी होगा, जब कि उससे पहले "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृह० ४०

भिदास्ति", इत्यादितत्पदार्थशोधकवाक्याधीनधीपूर्वकत्वाद्, उक्तवाक्येन वर्तमानार्थलट्प्रत्ययप्रयुक्तत्वाद् द्वैतविशिष्टब्रह्मरूपोद्देश्यार्थकेहपदयुक्तत्वाच्च वर्तमानकालावच्छेदेनोद्देश्यतावच्छेदकद्वैतत्वावच्छेदकदेशकालावच्छेदेन च द्वैतविशिष्टे ब्रह्मणि अस्तित्वविशिष्टस्य द्वैताभावस्य बोधनाद्, अत्यन्ताभावस्यावच्छिन्नवृत्तिकान्यत्वस्वीकारे निरवच्छिन्नविशेषणतया तादृग्ब्रह्मवृत्तित्वबोधनात्, तत्सम्बन्धावच्छिन्नस्य प्रतियोगिसामानाधिकरण्यस्य निवेशादेवाव्याप्यवृत्तितामादाय मिथ्यात्वानुमाने अर्थान्तरवारणाद्, एकप्रसरताभङ्गापत्त्या ब्रह्मणीत्येकपदस्य ब्रह्माधेयत्वयोरुद्देश्यविधेययोरन्वयाबोधकत्वेऽपि ब्रह्मणीत्यनेन ब्रह्मनिरूपितत्वरूपस्योद्देश्यस्यैवास्तीत्यनेनाधेयत्वाश्रयत्वरूपविधेयस्यैव समर्पणेन ब्रह्मनिरूपिताधेयत्वे तत्तद्देशाद्यवच्छिन्नत्वलाभात्, "यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च प्रतिष्ठित" इति

४।४।१९), "नात्र काचन भिदास्ति" (म० वा० २०४) इत्यादि तत्पदार्थ-शोधक वाक्यों के द्वारा द्वैत-विशिष्ट ब्रह्म में द्वैताभाव का बोधन किया जा रहा है, क्योंकि 'अस्ति' में वर्तमानार्थक 'लट्' प्रत्यय प्रयुक्त है और द्वैतविशिष्टब्रह्मरूप उद्देश्य का समर्पक 'इह' पद वहाँ रखा गया है, अतः उद्देश्यतावच्छेदकीभूत द्वैतवत्त्व और अस्तित्व-शिष्ट द्वैत के अभाव का समकालीनत्व अवगत होता है। यदि अत्यन्ताभाव को निरवच्छिन्नवृत्तिक माना जाता है, तब निरवच्छिन्नत्वरूप विशेषण से विशिष्ट द्वैताभाव की वृत्तिता का बोध उक्त वाक्य से किया जा सकता है, क्योंकि 'प्रपञ्चो मिथ्या (स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगी) दृश्यत्वात्'—इस अनुमान में कपिसंयोगादि के समान प्रपञ्च में अव्याप्यवृत्तित्वरूप अर्थान्तर की सिद्धि को लेकर प्राप्त अर्थान्तर नाम के निग्रहस्थान को हटाने के लिए स्वसमानाधिकरण अभाव में 'निरवच्छिन्नवृत्तिकत्व' विशेषण दिया ही जाता है।

यद्यपि उक्त वाक्य के द्वारा द्वैताभावगत ब्रह्म-निरूपित आधेयता में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान नहीं हो सकता, क्योंकि 'इह'—इस एक ही पद के द्वारा ब्रह्म और आधेयता—इन दोनों का बोध होता है, एक पद के द्वारा उपस्थापित अर्थ के एक देश (ब्रह्म) को उद्देश्य और दूसरे भाग (आधेयत्व) को विधेय [वैसे ही नहीं माना जा सकता, जैसे जै० सू० ३।५।१० में कहा है—"वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः"—इस वाक्य के द्वारा वषट्कार (होता) के उद्देश्य से प्राथम्य-विशिष्ट भक्षण का विधान किया जाता है, भक्षण के उद्देश्य से प्राथम्य मात्र का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रथमभक्षः' इस एक ही पद के द्वारा समर्पित भक्ष भाग को उद्देश्य और प्राथम्य भाग को विधेय] नहीं माना जा सकता, अन्यथा एकप्रसरता (पदगत एकार्थीभावरूप सामर्थ्य) भंग हो जाती है, क्योंकि एक पद का यह सामर्थ्य है कि वह अपने पूरे पदार्थ को उद्देश्य या विधेय के रूप में बोधित करता है।

तथापि जिस आधेयता में द्वैतकालावच्छिन्नत्व का भान होता है, वह 'इह' पद से बोधित न होकर 'अस्ति' पद से अवगमित मानी जाती है। 'ब्रह्म अप्रक्रान्त होने के कारण 'इह' पद का ब्रह्मणि अर्थ कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि "नेह नानास्ति" (बृह० उ० ४।४।१९) इस वाक्य से पूर्व "यस्मिन् पञ्च पञ्च जना आकाशश्च

वाक्ये "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षु"रित्यादिनाक्ये चाकाशशब्दिताव्याकृतप्राणादि-सम्बन्धितया ब्रह्मण उक्तत्वात् पञ्चजनशब्दस्य गन्धर्वादिरूपस्य ब्राह्मणादिरूपस्य वा भाष्योक्तार्थस्य, "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चेतिवाक्ये ब्रह्मक्षत्रपदयोरिव सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन प्राणस्येत्यादेरपि सर्वदृश्योपलक्षणत्वेन सर्वदृश्यसम्बन्धित्वेनैव ब्रह्मणः पूर्वमुक्तत्वाच्चाद्वैतसिद्धेः द्वैतमिथ्यात्वपूर्वकत्वम् ।

न च नानेत्यस्य नञ्पदनिष्पन्नत्वेन भेदार्थकतया स्वसमभिव्याहृतपदार्थब्रह्मभेदबोधकतया तादृशभेदविशिष्टस्य किञ्चनेति पदार्थस्यात्यन्ताभावे द्वैतवत्त्वदेशकालावच्छिन्नत्वस्य भानं न व्युत्पत्तिसिद्धम्, उद्देश्यतावच्छेदकतत्तद्देशकालावच्छिन्नत्वयोः तत्तद्देशकालादिविशिष्टोद्देश्यस्थले भानादिति वाच्यम्, तादृशाभावे तादृशावच्छिन्नब्रह्मवृत्तित्वबोधेऽप्युद्देश्यसिद्धेः । न हि तत्र तत्केनापि स्वीक्रियते । प्रलयेऽपि तादृशाभावे तार्किकादिभिस्तदस्वीकारात् मिथ्यात्ववादिनैव तत्स्वीकारात् ।

प्रतिष्ठितः" (बृह० उ० ४।४।१७) तथा "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" (बृह० उ० ४।४।१८) इत्यादि वाक्यों में क्रमशः आकाश-वाच्य मायाख्य अव्याकृतसम्बन्धित्वेन और प्राणसंबन्धित्वेन ब्रह्म का ही ग्रहण किया गया है । 'पञ्चजन' शब्द भाष्योक्त गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र और निषाद—इन पांच पदार्थों के माध्यम से वैसे ही द्वैतमात्र का उपलक्षक है, जैसे कि "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च" (कठो० २।२५) यहाँ पर ब्रह्म और क्षत्र पद सर्व दृश्य का उपलक्षक है, अतः सर्वनादाम्त्यापन्नत्व रूप से ब्रह्म प्रक्रान्त होने के कारण 'नेह नानास्ति'—यहाँ इह पद के द्वारा बोधित हो सकता है । सर्वथा यह निश्चित है कि अद्वैत-निश्चय द्वैत-मिथ्यात्व-निश्चपूर्वक ही होता है ।

शङ्का—"नेह नानास्ति किञ्चन"—यहाँ पर 'नाना' पद "विनञ्भ्यां नानाञौ न सह" (पा० सू० ५।२।२७) इस सूत्र के द्वारा असहार्थक नञ् पद से स्वार्थ में 'नाञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है, अतः असह वा भेदरूप अर्थ का वाचक है । नञ् का यह स्वभाव है कि वह स्व-समभिव्याहृत पद से उपस्थापित वस्तु के भेद का बोधन करता है, अतः प्रकृत में ब्रह्म-भेद का समर्पक सिद्ध होता है, जिसको लेकर 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अर्थ होता है—'इह ब्रह्मभिन्नं किञ्चित् नास्ति ।' फलतः न तो यहाँ 'नञ्' पद से अत्यन्ताभाव का बोधन होता है और न उस में द्वैतवत्त्व-देशकालावच्छिन्नत्व का भान, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकदेशकालावच्छिन्नत्व का भान वहाँ पर ही विधेय में होता है, जहाँ पर उद्देश्य पदार्थ देशकाल से अवच्छिन्न हो, प्रकृत में ब्रह्म देशकाल-परिच्छेद से रहित है, अतः यहाँ वह कदापि सम्भव नहीं ।

समाधान—'इह (ब्रह्मणि) ब्रह्मभिन्नवस्तुसामान्याभावः'—इस प्रकार सामान्याभाव में द्वैतावच्छिन्न ब्रह्म की वृत्तितामात्र के ज्ञान से भी हमारा उद्देश्य (महावाक्यजन्य अद्वैतसिद्धि के पहले द्वैत में मिथ्यात्व सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि अद्वैतवादी को छोड़ कर ब्रह्म-भिन्न वस्तु-सामान्य के अभाव में द्वैतकालावच्छिन्न ब्रह्म की वृत्तिता अन्य कोई भी नहीं मानता । तार्किकादि भी प्रलयावच्छेदेन उक्त अभाव में द्वैतकालावच्छिन्न ब्रह्म-वृत्तिता नहीं मानते, केवल द्वैत-मिथ्यात्ववादी ही मानते हैं ।

वस्तुतः 'नाना' पद वाच्य ब्रह्म-भेद प्रतियोगितावच्छेदक (प्रतियोगिविशेषण) के रूप में प्रतीत नहीं होता, किन्तु किंचन पदार्थ में उपलक्षणविधया प्रकारमात्र है ।

वस्तुतस्तु ब्रह्मभेदो न प्रतियोगितावच्छेदकतया भाति, किन्तूपलक्षणतया किंचन पदार्थे प्रकारः। तथा च तत्पदस्य सर्वनामतया प्रसिद्धार्थतया प्रत्यक्षादिमानसिद्धद्रव्यत्वादिविशिष्टबोधकत्वेन प्रसिद्धार्थकत्वात् प्रक्रान्तार्थकत्वाद्वा घटत्वादिविशिष्टवत् ब्रह्मबोधनात्, द्रव्यत्वादिविशेषरूपेणैव मिथ्यात्वलाभः। घटवत् द्रव्यवदित्येवमुद्देश्यतावच्छेदकभानेऽपि द्रव्यं नास्तीत्यादिविधेयांशे घटत्वादिविशिष्टस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वेन द्रव्यत्वादिविशिष्टाभावभानस्य नाहार्यत्वापत्तिरिति भावः।

वादः तत्त्वबुभुत्सुना सह कथा। जल्पो विजिगीषुणा सह। वितण्डा-स्वपक्षस्थापनहीना। कथा पञ्चावयवपरिकरोपेतवाक्यम्। सिषाधयिषेत्यादि। सिषाधयिषाभावसामानाधिकरण्यविशिष्टस्य साध्यनिश्चयस्याभावरूपाया इत्यर्थः। संशयस्य संशयहेतुत्वस्वीकारस्य। अतिप्रसञ्जकत्वाद्-आहार्यपरामर्शादेर्हेतुत्वापादकत्वाद्। "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे"ति। पक्षे धर्मिणि प्रतिनियतपक्षपरिग्रहेत्यर्थः। वादिनोर्भावाभावान्यतरकोटेरेकधर्मिणि प्रयोगेति यावत्। तथापि—अनुमित्यजनत्वेऽपीति। अनुमितिं प्रति तथाविधमेव यदङ्गत्वं तदभावेऽपीत्यर्थः। प्रथमस्यापिशब्दस्यैवकारसमानार्थकत्वाद् यद्यपीत्यस्य पूर्वं सत्त्वात्तथापीत्यन्यदध्याहार्यम्। एकेनैव वा तथापीत्यनेनार्थद्वयबोधः। अथवा अङ्गत्वपदस्य पूर्वशङ्किताङ्गत्वमर्थः।

किंचन पद का घटकीभूत 'किम्' पद सर्वनामसंज्ञक होने के कारण प्रसिद्धार्थक है, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा सिद्ध घटादि द्रव्य का बोधक है। 'इह' पद भी प्रसिद्धार्थक या प्रकृतार्थक होने के कारण घटादि-विशिष्ट ब्रह्म का बोधक है, अतः 'ब्रह्मभेदोपलक्षित-द्रव्यत्वविशिष्टाभावो घटत्वविशिष्टवद्ब्रह्मवृत्तिः'—इस प्रकार के बोध से द्वैत में द्रव्यत्वादि विशेषरूपेण मिथ्यात्व का लाभ हो जाता है। 'घटवति ब्रह्मणि द्रव्यं नास्ति', 'द्रव्यवति ब्रह्मणि जातिमान् नास्ति'—इत्यादि बोधों में उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय की शब्दतः भावाभावरूपता प्रतिपादित न होने के कारण आहार्यरूपता की आपत्ति नहीं हो सकती।

यहाँ 'वाद' पद का अर्थ है—तत्त्वबुभुत्सु पुरुष के साथ शास्त्र-चर्चा, विजयाभिलाषी व्यक्ति के साथ होनेवाली कथा को 'जल्प' और अपने पक्ष की स्थापना से हीन कथा को वितण्डा' कहा जाता है। 'कथा' उस वाक्यावलि का नाम है, जिसमें विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष और प्रयोजनरूप पाँच पदार्थ निहित होते हैं। मूल में पक्षता का जो लक्षण किया गया है—'सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावरूपता', उसका अर्थ है—'सिषाधयिषाविरह-समानाधिकरण जो साध्य-निश्चय है, उस का अभाव। मूलकार ने जो कहा है—'आहार्यसंशयस्यातिप्रसञ्जकत्वात्', उस का अर्थ है—आहार्यसंशयनिष्ठस्य अनुमितिहेतुत्वस्वीकारस्यातिप्रसञ्जकत्वात्। अर्थात् आहार्य संशय को यदि अनुमिति का हेतु माना जाता है, तब आहार्यपरामर्शादि को भी अनुमिति का हेतु मानना पड़ेगा। "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह" का अर्थ 'पक्ष (स्थापनीय कोटि) और प्रतिपक्ष (विपरीत कोटि) का परिग्रह' नहीं, अपितु 'पक्ष में प्रतिपक्ष का परिग्रह'—ऐसा अर्थ अभीष्ट है, जिससे एक ही (प्रपञ्चादि) धर्मी में भाव (सत्यत्व) और अभाव (सत्याभाव) दोनों कोटियों का क्रमशः वादी और प्रतिवादी के द्वारा ग्रहण (प्रयोग) पर्यवसित होता है। "तथापि अनुमित्यनङ्गत्वेऽपि" का अर्थ है—अनुमिति के प्रति तथैव (पूर्वाशङ्कित) जो अङ्गता, उसका अभाव होने पर भी, क्योंकि प्रथम 'अपि' शब्द

"व्युदसनीयतया" विचारसाध्याभावप्रतियोगितया। "विचाराङ्गत्वं" विचारप्रवृत्त्युपयुक्तस्य संशयाभावरूपफलज्ञानस्य विशेषणज्ञानविधया कारणे ज्ञाने विषयत्वम्। तथा च विप्रतिपत्तिवाक्यात् संशये जाते संदेह्मीत्याकारकेण संशयरूपविशेषणज्ञानेन संशयाभावरूपज्ञानाधीनेच्छया विचारे प्रवृत्तिरित्येवंरीत्या विचारे विप्रतिपत्तिवाक्योपयोग इति भावः।

ननु वादिनोः स्वस्वकोटिनिश्चयकाले तत्संशयोत्पादानुपपत्तिः—अत आह—"तादृशेति"। विचाराङ्गेत्यर्थः। "स्वरूपयोग्यत्वात्" कारणत्वात्। प्राचीनमते विप्रत्तिपत्तिवाक्यस्य शाब्दधीरूपसंशयोत्पादकत्वस्वीकारात्। प्रत्यक्षस्यैव संशयत्वमिति मते तु कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपदघटितत्वादित्यर्थः। तथा च वादिनोर्निश्चयकाले संशयानुत्पत्तावपि संशयकारणत्वादिरूपेण ज्ञाता विप्रतिपत्तिः संशयं स्मारयति, ययोः सम्बन्धः पूर्वं गृहीतः, तयोरेकज्ञानस्यापरस्मारकत्वात्। तथा च तदैव तथा तस्या उपयोग इति भावः। "आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्"—इति निश्चयवानस्मीति ज्ञापयन्तौ विवदेते इत्यर्थकम्। तथा च वादिनोर्निश्चयकाले सभा[illegible]त्यादीनां

एवकारार्थक है। यहाँ 'तथापि' का तथैव अर्थ कर देने पर पहले प्रयुक्त '[illegible]' की संगति बिठाने के लिए दूसरे 'तथापि' पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। अथवा एक ही 'तथापि' पद से दोनों अर्थों का बोध हो सकता है। यद्वा 'तथापि' का 'तथैव' अर्थ न कर 'अङ्गत्व' पद का ही पूर्वशङ्किताङ्गत्व अर्थ किया जा सकता है। "व्युदसनीयतया" का अर्थ निवर्तनीयतया नहीं, अपि तु विचार-साध्याभाव-प्रतियोगितया है। मूलकार ने जो विप्रतिपत्ति-जन्य संशय में विचाराङ्गत्व कहा है, उसका अर्थ है—विचार में प्रवृत्ति के उपयोगीभूत संशयाभावरूप फल के ज्ञान में विशेषण-ज्ञान विधया कारणीभूत संशय-ज्ञान का विषयत्व। फलतः बिप्रतिपत्ति वाक्य से संशय के उत्पन्न हो जाने पर 'सन्देह्मि'—इस प्रकार संशयरूप विशेषण का ज्ञान हो जाता है, तब संशयाभावरूप फल-ज्ञान-जन्य इच्छा के द्वारा विचार में वादी की प्रवृत्ति हो जाती है—इस प्रकार विचार में विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग सिद्ध होता है।

'वादी और प्रतिवादी को जब अपनी-अपनी कोटि का निश्चय हो, तब विप्रतिपत्ति वाक्य से 'संशय नहीं होता, अतः विप्रतिपत्ति वाक्य में संशय-जनकत्व क्यों रहेगा ?'—इस शङ्का का समाधान करने के लिए मूलकार ने कहा है—"तादृशसंशयं प्रति विप्रतिपत्तेः क्वचिन्निश्चयादिप्रतिबन्धादजनकत्वेऽपि स्वरूपयोग्यत्वात्"। 'स्वरूपयोग्यत्वात्' का अर्थ है—कारणत्वात्, क्योंकि प्राचीन नैयायिक शाब्दबोधात्मक संशय की कारणता विप्रतिपत्ति वाक्य में मानते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में ही संशयत्व माननेवाले आचार्यों के मतानुसार कारणत्वात् का अर्थ है—'कारणीभूतकोटिद्वयोपस्थितिहेतुपदघटितत्वात्'। अर्थात् वादिगणों को जब अपनी-अपनी कोटि का निश्चय होता है, तब विप्रतिपत्ति वाक्य से संशय उत्पन्न न होने पर भी संशयकारणत्वेन ज्ञात विप्रतिपत्ति संशय का स्मरण कराती है, क्योंकि जिन दो पदार्थों का सम्बन्ध निश्चित हो जाता है, उनमें से एक पदार्थ का ज्ञान या ज्ञायमान एक पदार्थ दूसरे का स्मारक होता है। फलतः निश्चय काल में भी संशय-स्मारकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग हो जाता है। "आभिमानिकनिश्चयाभिप्रायम्"—इस मूल वाक्य का अर्थ है कि प्रत्येक वादी 'निश्चयवानस्मि'—इस प्रकार का अभिनय करता हुआ वादादि में प्रवृत्त होता है, इस लिए

संशयाभावमुद्दिश्य विचारे प्रवृत्तिरितिभावः।

ननु विशेषणज्ञानस्य विशिष्टबुद्धिहेतुत्वमते नोक्तरीत्या विप्रतिपत्तिरुपयुज्यत इति चेत्। सत्यम्, तथापि स्वस्य परस्य वा संशयाभाववत्त्वे निश्चिते तत्र सिद्धत्वज्ञानात्, न तदुद्देश्येन प्रवृत्तिरतः संशयाभाववत्त्वनिश्चयविरोधिनी संशयवत्त्वधीरपेक्ष्यत एव। ननु वादिनोरन्येषां च सभास्थानां निश्चये वादिभ्यां निश्चिते संशयाभावमुद्दिश्य न विचारे तयोः प्रवृत्तिः, किन्तु विजयादिकमुद्दिश्य। तत्र च विप्रतिपत्तिर्नोपयुज्यत अत आह—"तस्मादिति"। "स्वकर्तव्येति"। उक्तस्थले तात्कालिके संशयाभावे निश्चितेऽपि निश्चयजन्यसंस्कारस्य कालान्तरे उच्छेदशङ्कया संशयोत्पत्तिसंभवज्ञानेन तदापि संशयाभावोऽनुवर्ततामितीच्छायाः सम्भवान्न विजयादिकमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः। किञ्च यथा समयबन्धः एतन्मतमवलम्ब्यैव युवाभ्यां विचारणीयमित्याकारको मध्यस्थेन क्रियते, अन्यथा वादिनोर्मतान्तरप्रवेशेऽव्यवस्थापत्तेः। यथा वा वादिनो

वादिगणों के निश्चय-काल में न तो संशय होता है और न अपने संशय को दूर करने के लिए विचार में उनकी प्रवृत्ति, अपि तु सभाध्यक्षादि को संशय से मुक्त करने के लिए प्रवृत्ति होती है।

शङ्का—विप्रतिपत्ति वाक्य का व्युदसनीय संशयोपस्थापकत्वेन उपयोग होने पर भी जो लोग विशिष्ट-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान को हेतु मानते हैं, उनके मतानुसार विशेषण-ज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग नहीं होता।

समाधान—विप्रतिपत्ति वाक्य से संशयरूप विशेषण का ज्ञान उत्पन्न होता है, वादी को 'संशयवानस्मि'—इस प्रकार की विशिष्ट बुद्धि होती है, अतः विशेषण-ज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्तिवाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है। संशयवानस्मि'—इस प्रकार का ज्ञान न होने पर 'निश्चयवानस्मि'—इस प्रकार का फल-ज्ञान हो जायगा विचार में प्रवृत्ति न होगी, अतः फल-ज्ञान-विघटक विशिष्ट-ज्ञान में विशेषणीभूत संशय का ज्ञान विप्रतिपत्ति वाक्य से होता है, फलतः विशेषणज्ञान-जनकत्वेन विप्रतिपत्ति वाक्य का उपयोग सिद्ध हो जाता है।

जब वादिगणों और सभास्थ सभी व्यक्तियों को निश्चय ही है, संशय नहीं, तब संशयाभाव के उद्देश्य से वादादि में प्रवृत्ति सम्भव नहीं, केवल विजयाभिलाषा से ही प्रवृत्ति का निर्वाह करना होगा, ऐसे स्थल पर विप्रतिपत्ति का कोई उपयोग नहीं, फिर उस का प्रदर्शन क्यों? इस शङ्का का समाधान मूलकार ने किया है—'तस्मात् समयबन्धादिवत् स्वकर्तव्यनिर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः प्रदर्शनीयैव''। अर्थात् उक्त स्थल पर वर्तमान काल में संशयाभाव निश्चित होने पर भी सदैव यह संशयाभाव बना रहेगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निश्चय जन्य संस्कारों का कालान्तर में उच्छेद हो जाने से संशय की उत्पत्ति हो सकती है, अतः सदैव संशयाभाव बना रहे—इस प्रकार की इच्छा से भी विचार में प्रवृत्ति हो सकती है, केवल विजयादि के उद्देश्य से ही प्रवृत्ति होती है—ऐसा नियम नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात यह भी है कि जैसे शास्त्रार्थ के आरम्भ में मध्यस्थ कुछ आवश्यक समयबन्धों (संकेतों या निर्बन्धों) का निर्देश करता है कि 'वादिगणो! अमुक मत का अवलम्बन कर आप लोगों को विचार करना चाहिए'—इत्यादि। अन्यथा वादी-प्रतिवादी का विचार व्यवस्थित न रह सकेगा। अथवा जैसे शास्त्रार्थ में प्रवेशार्थी

परीक्ष्येते, अन्यथा मूर्खस्य विचारे मध्यस्थस्यैव हास्यत्वापत्तेः, तथा विप्रतिपत्तिरपि मध्यस्थेन कार्यैव, अन्यथा प्रासङ्गिकविषयमादाय वादिनोरेकस्य जयस्वीकारापत्त्या प्रकृतविषये तयोर्जयपराजयव्यवस्थापनरूपस्य मध्यस्थकर्तव्यस्यानिर्वाहात्। विप्रतिपत्तौ कृतायां तु सभास्थैस्तच्छ्रवणात्तद्विषयकोटी अपलप्य प्रासङ्गिकविषयान्तरं न वादिभ्यामवलम्ब्य विजयः स्वीकर्तुं शक्यते। तस्मात्सार्वकालिकसंशयाभावप्रयोजकसंस्कारदाढर्यस्योक्तव्यवस्थापनस्य च स्वकर्तव्यस्य निर्वाहाय मध्यस्थेन विप्रतिपत्तिः कार्यैवेति भावः।

"प्रतिपन्ने"त्यादि। स्वसम्बन्धितया ज्ञाते सर्वत्र धर्मिणि। "त्रैकालिकस्य" सर्वदा विद्यमानस्य। "निषेधस्य"—अत्यन्ताभावस्य। "प्रतियोगि न वा"। येन सम्बन्धेन यद्रूपविशिष्टसम्बन्धितया यत् ज्ञातं तत्सम्बन्धतद्रूपावच्छिन्नं तन्निष्ठोक्ताभावस्य प्रतियोगित्वं निवेश्यम्, अन्यथा सम्बन्धान्तररूपान्तरावच्छिन्नमुक्तप्रतियो-

---

वादियों की सामान्य परीक्षा ली जाती है, अन्यथा मूर्ख व्यक्तियों के विचार में घुस जाने पर मध्यस्थ की ही हँसी होती है। वैसे ही मध्यस्थ के द्वारा विप्रतिपत्ति वाक्य का भी उद्भावन किया जाना आवश्यक है, अन्यथा किसी प्रासङ्गिक विषय को लेकर वादियों में से एक की विजय स्वीकार करनी पड़ेगी और मध्यस्थ का जो मुख्य कर्त्तव्य है—प्रकृत विषय में जय-पराजय की व्यवस्था, उसका निर्वाह न हो सकेगा। विप्रतिपत्ति वाक्य का निर्देश हो जाने पर किसी प्रकार की अनियमितता नहीं होने पाती और सभास्थ व्यक्ति जागरुक हो जाते हैं, प्रकृत विषय-कोटियों को छोड़कर न तो वादी-प्रतिवादी इधर-उधर जाने पाते हैं और न किसी प्रासङ्गिक विचार में उनकी विजय-पराजय ही स्वीकार की जा सकती है। फलतः सार्वदिक संशयाभावविषयक संस्कारों की दृढता और अपने व्यवस्थापन कर्त्तव्य का निर्वाह करने के लिए मध्यस्थ को विप्रतिपत्ति वाक्य का प्रयोग करना ही चाहिए।

विप्रतिपत्ति वाक्य-घटक "प्रतिपन्नोपाधो" पद का अर्थ है—मिथ्यात्वेनाभिमत पदार्थ के सम्बन्धित्वेन ज्ञात धर्मी में। अर्थात् 'प्रतिपन्न' का अर्थ स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञात और 'उपाधि' पद का अर्थ आश्रय है। "त्रैकालिक" का अर्थ सर्वदा विद्यमान है। "निषेध" का अर्थ अत्यन्ताभाव है। "प्रतियोगी ? न वा ?" यहाँ पर जिस सम्बन्ध से जिस धर्म से विशिष्ट पदार्थ का सम्बन्धित्वेन ज्ञात जो धर्मी है, उसी धर्मी में रहने वाले अत्यन्ताभाव का उसी सम्बन्ध और उसी धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगित्व को मिथ्यात्व का परिष्कृत रूप समझना चाहिए, अन्यथा सम्बन्धान्तर और धर्मान्तर से अवच्छिन्न उक्त प्रतियोगित्व को लेकर सिद्ध-साध्यता प्रसक्त होती है [तार्किक गण कपाल को समवाय सम्बध से घट का अधिकरण मानते हैं, अतः 'समवायेन घटत्वेन घटो नास्ति'—ऐसा अत्यन्ताभाव कपाल में नहीं मानते, किन्तु 'संयोगेन घटो नास्ति या पटत्वेन घटो नास्ति'—ऐसा अत्यन्ताभाव मानते हैं, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक या व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव सर्वत्र माना जाता है, इस अत्यन्ताभाव की व्यावृत्ति करने के लिए आधेयतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों और सम्बन्धों की एकता का निवेश परम आवश्यक है, अतः मिथ्यात्व का परिष्कृत स्वरूप है—यत्सम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावद् यत् प्रतीयते, तत्सम्बन्धावच्छिन्नं तद्धर्मावच्छिन्नं तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

गित्वमादायसिद्धसाध्यतापत्तेः। स्वपदं रजतत्वादिविशिष्टपरम्। नव्यमते स्वत्वस्याननुगतत्वात्तत्तद्व्यक्तिपरत्वे व्यक्तिभेदेन मिथ्यात्वस्य भेदापत्तेः। तथा च रजततादात्म्येन ज्ञायमानं यच्छुक्त्यादिकं तन्निष्ठाभावीयं यद्रजतत्वतादात्म्यसंवन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वं तस्य प्रातीतिक इव व्यावहारिकेऽपि रजते सत्त्वात्तत्र सिद्धसाधनवारणाय सर्वत्रेत्युक्तम्। कालिकाव्याप्यवृत्तिमदत्यन्ताभावमादायार्थान्तरतापत्तेस्त्रैकालिकेत्युक्तम्। यद्यपि अत्यन्ताभावस्यैव प्रतियोगिता भेदसहिष्णुना तादात्म्येनावच्छिन्ना, न तु भेदस्य; तादृशतादात्म्यस्य भेदाविरोधित्वाद्, भेदासहिष्णु च तादात्म्यं नास्त्येव अत्यन्ताभेदे तादात्म्यादिसम्बन्धासम्भवात्; तथापि प्रकृतानुमानात्तादात्म्यावच्छिन्नभेदप्रतियोगितासिद्धिमादायार्थान्तरं स्यात्। अतोऽत्यन्ताभावेत्युक्तम्। संसर्गाभावो

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नरजतत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणता शुक्ति में प्रतीत होती है, अतः शुक्ति में 'तादात्म्येन रजतत्वेन रजतं नास्ति'—इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का जो तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न और रजतत्वावच्छिन्न प्रतियोगित्व है, वही उसका मिथ्यात्व है]। 'स्वसम्बन्धितया ज्ञाते'—यहाँ 'स्व' पद रजतत्व-विशिष्ट अर्थ का बोधक है, क्योंकि नव्य नैयायिक 'स्वत्व' धर्म को अनुगत नहीं मानते, अतः 'स्व' पद का यथाश्रुत निवेश करने पर लक्षण अनुगत न होकर अननुगत हो जाता है, अतः 'स्व' पद को रजतत्वादि-विशिष्टपरक मानना आवश्यक है।

रजत-तादात्म्येन ज्ञायमान शुक्त्यादि में रहने वाले 'तादात्म्येन रजतं नास्ति'—इस प्रकार के अत्यन्ताभाव का रजतत्वतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगित्व जैसे प्रातिभासिक रजत में है, वैसे ही व्यावहारिक रजत में भी है, अतः इस प्रकार के मिथ्यात्व की सिद्ध-साधनता हटाने के लिए मूल में कहा है—"सार्वत्रिक"। शुक्ति में व्यावहारिक रजत का अभाव रहने पर भी सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजत के उपादानभूत व्यावहारिक अवयवों में तादात्म्येन रजत का सत्त्व ही माना जाता है, अत्यन्ताभाव नहीं, अतः सिद्ध-साधनता नहीं होती। सभी जन्य पदार्थ काल में रहते हैं और उनका अत्यन्ताभाव भी, अतः कालिकसम्बन्धेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अभीष्ट ही है, किन्तु यह मिथ्यात्व नहीं, कालिक अव्याप्यवृत्तित्व मात्र है, इस अर्थान्तरता की व्यावृत्ति करने के लिए त्रैकालिक कहा गया है। काल में वस्तु का त्रैकालिक अभाव नहीं माना जाता, अतः अर्थान्तरता नहीं होती।

यद्यपि अद्वैत वेदान्त में कपालादि उपादान और घटादि उपादेय का जो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है, वह भेद-सहिष्णु होता है और अत्यन्ताभावीय प्रतियोगिता का ही अवच्छेदक होता है, भेदीय प्रतियोगिता का नहीं, क्योंकि वह अत्यन्ताभाव का ही विरोधी होता है, भेद का नहीं, और अभाव-विरोधी प्रतियोगिसम्बन्ध को ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है। वैसा तादात्म्य सम्बन्ध घटादि का कपालादि में ही रहता है, घटादि (स्वयं अपने) में नहीं, क्योंकि अत्यन्ताभेद में कोई भी सम्बन्ध नहीं रह सकता। फलतः उपादेयतावच्छेदकतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव से अत्यन्ताभाव का ही ग्रहण होता है, भेदादि का नहीं, फिर निषेध का अत्यन्ताभाव अर्थ करना व्यर्थ है, केवल अभाव अर्थ करना चाहिए।

तथापि प्रकृत अनुमान के द्वारा भेद की तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता की सिद्धि मानकरअ र्थान्तरता होती है, उसकी निवृत्ति के लिये 'अत्यन्त' पद सार्थक है।

वा निवेश्यः। तादृशाभावप्रतियोगितावच्छेदकरजतत्वादिमत्त्वस्य साध्यत्वे साध्याप्रसिद्धिः, अतस्तत्परिहाय तादृशप्रतियोगित्वमेव साध्यं कृतम्। तस्यापि शुक्तिरूप्यादावनुमानात्पूर्वमसिद्धिः। रजतसम्बन्धितया प्रतीयमानसर्वान्तर्गतव्यावहारिकरजतादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तादृशावच्छिन्नस्य तत्राभावात्। अतो व्यावहारिकपक्षकविशेषानुमानेषु रजतत्वादिना घटो नास्तीति प्रतीतेः घटादिरेव दृष्टान्तः।

ननु तादृशप्रतियोगितायाः व्यधिकरणावच्छेदकरजतत्ववत्त्वं शुक्तिरूप्यादावपि प्रसिद्ध्या तदेव साध्यं कुतो न कृतमिति—चेन्न। तथा सति व्यावहारिकरजतादिरूपे पक्षे तत्प्रसिद्ध्या सिद्धसाधनतापत्तेः। समानाधिकरणावच्छेदकरजतत्वस्यैव साध्यीकार्यत्वे प्रसिद्ध्यावश्यकत्वात्। सामान्यानुमाने तु शुक्तिरूप्यादिकं मूलोक्तं दृष्टान्तः। स्वत्वस्यानुगतस्य प्राचां मते स्वीकारेण स्वत्वविशिष्टसम्बन्धितया ज्ञायमाने सर्वत्र विद्यमानात्यन्ताभावस्य प्रातीतिकरजतत्वतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य प्रातीतिकरजतादौ सत्त्वात्। न चैवं सर्वदेशकालवृत्तिव्याप्यवृत्त्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं पर्यव-

---

अथवा लाघव को ध्यान में रखते हुए अत्यन्ताभाव के स्थान पर संसर्गभाव रखा जा सकता है। [यद्यपि 'संसर्गाभाव' पद से ध्वंस और प्रागभाव का भी ग्रहण होता है और उनकी प्रतियोगिता को लेकर अर्थान्तरता भी होती है, तथापि 'त्रैकालिक' विशेषण के द्वारा ध्वंस और प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जाती है]।

'प्रतियोगि ? न वा ?'—यहाँ पर कथित प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाया गया है, प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नत्व को नहीं, अन्यथा साध्याप्रसिद्धि हो जाती, क्योंकि रजतत्वेन ज्ञात सर्वान्तर्गत व्यावहारिक रजतावयव में रजत सामान्य का अभाव नहीं, अतः रजतत्व में उक्त प्रतियोगितावच्छेदकत्व दुर्घट है। उक्त प्रतियोगित्व भी शुक्ति-रजतादि में अनुमान के पूर्व सिद्ध नहीं, क्योंकि रजत-सम्बन्धिया प्रतीयमान सर्वान्तर्गत व्यावहारिकरजतावयवनिष्ठ अत्यन्ताभाव की उक्त प्रतियोगिता शुक्ति-रजत में नहीं है, अतः व्यवहारिकपक्षक विशेषानुमानों में 'रजतत्वेन घटो नास्ति'—ऐसी प्रतीति को लेकर घटादि को दृष्टान्त बनाया जा सकता है, शुक्ति-रजत को नहीं।

शङ्का—'रजतत्वेन घटो नास्ति'—इस प्रकार के व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिकताक अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकरजत्ववत्त्व तो शुक्ति-रजत में भी प्रसिद्ध है, अतः प्रतियोगित्व को साध्य न बनाकर प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व को साध्य क्यों नहीं बनाया गया ?

समाधान—उक्त प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व जैसे प्रातिभासिक रजत में प्रसिद्ध है, वैसे ही व्यावहारिक रजत में भी, अतः सिद्ध-साधनता हो जाती. उससे बचने के लिए उक्त प्रतियोगित्व को ही साध्य बनाया गया है, प्रतियोगितावच्छेदकवत्त्व को नहीं। प्रतियोगिता के समानाधिकरणावच्छेदक रजतत्व को साध्य बनाने पर उसकी प्रसिद्धि आवश्यक है। मिथ्यात्व के सामान्यानुमान में तो मूलोक्त शुक्ति-रजतादि ही दृष्टान्त है। प्राचीन नैयायिक स्वत्व को भी अनुगत धर्म ही मानते हैं, अतः स्वत्व-विशिष्ट-सम्बन्धितया ज्ञायमान सर्वत्र विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रातीतिकत्वतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगित्व प्रातीतिक रजतादि में प्रसिद्ध है।

शङ्का—मिथ्यात्व के परिष्कृत लक्षण का पर्यवसान यदि सर्वदेशकालवृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व में है, तब तो प्रपञ्च में खपुष्पादि के समान अलीकत्वापत्ति होती है।

सितम् , तथा चालीकत्वापत्तिः प्रपञ्चस्येति वाच्यम् ; कालसम्बन्धित्वसमानाधिकरणस्य तस्य निवेश्यत्वात् ।

ननु कालसम्बन्धित्वमास्तां प्रपञ्चे विशेष्यभूतमुक्तप्रतियोगित्वं तु न तत्रास्ति । येन हि रूपेण सम्बन्धेन च यत्र यत् सम्बध्यते । न च तेन रूपेण तत्सम्बन्धेन च तत्र तदभावः, विरोधादिति मन्वानं वादिनं प्रति तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन तन्मतमनुसृत्य साध्यान्तरमाह—"पारमार्थिकेत्यादि" । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नं यदुक्तप्रतियोगित्वं तद्वन्न वेत्यर्थः । तत्रोक्तप्रतियोगित्वे तद्रूपावच्छिन्नमिति पूर्वोक्तस्य विशेषणस्य स्थाने तद्रूपसमानाधिकरणमिति विशेषणं देयम् । न च तत्र प्रयोजनाभाव इति वाच्यम् , घटादेः पारमार्थिकत्वेऽपि पारमार्थिकत्वेन शुक्तिरूप्यादेः योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय यदर्थान्तरं तद्वारणादेः प्रयोजनस्य सत्वात् । कपालादौ संयोगादिसम्बन्धेन घटादेर्योऽत्यन्ताभावस्तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सिद्धिमादाय घटादेः पारमार्थिक स्वीकारेऽप्यर्थान्तरं स्यादतस्तत्सन्बन्धावच्छिन्नेत्यपि प्रतियोगित्वे विशेषणं देयम् ।

न च पारमार्थिकत्वस्य घटादौ स्वीकारे तेन रूपेण कथं कपालादौ संयोगेनापि घटादेरभावसिद्धिः, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाववादिनापि विशेषरूपेण सामान्याभावस्वीकारेऽपि सामान्यरूपेण विशेषस्याभावास्वीकारादिति वाच्यम् , प्रकृतानुमान-

---

समाधान—'कालसम्बन्धित्वे सति'—ऐसा प्रतियोगित्व का विशेषण दे देने पर अलीकत्वापत्ति नहीं होती ।

'प्रपञ्च में विशेषणभूत काल-सम्बन्धित्व के रहने पर भी विशेष्यभूत उक्त प्रतियोगित्व नहीं रह सकता, क्योंकि जो वस्तु जिस रूप और जिस सम्बन्ध से जहाँ रहती है, उस वस्तु का उसी रूप और उसी सम्बन्ध से वहाँ अभाव नहीं रह सकता. एक आधार में वस्तु के भाव और अभाव का रहना अत्यन्त विरुद्ध है'—ऐसा माननेवाले वादियों के अनुरोध को 'तुष्यतु दुर्जनः'—इस न्याय से मानकर उनके अनुसार ही साध्यान्तर का निर्देश किया गया—"पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधप्रतियोगि" । पारमार्थिकत्वावच्छिन्नोक्तप्रतियोगित्ववत् ? न वा ? विप्रतिपत्ति का यह पूर्ण निर्देश है । उक्त प्रतियोगित्व में 'तद्रूपावच्छिन्नम्'—इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषण के स्थान पर 'तद्रूपसमानाधिकरणम्'—ऐसा विशेषण देना चाहिए । इसका प्रयोजन क्या ? इस प्रश्न का उत्तर है कि घटादि के पारमार्थिक होने पर भी पारमार्थिकत्वेन शुक्ति-रजतादि के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता घटादि में सिद्ध करने पर जो अर्थान्तरता प्रसक्त होती है, उसकी निवृत्ति करना ही उक्त विशेषण का तात्पर्य है, उक्त प्रतियोगिता घटत्व-समानाधिकरण नहीं ।

शङ्का—कपालादि में संयोगादि सम्बन्ध से जो घटादि का अत्यन्ताभाव है, उसकी घटादि में प्रतियोगिता-सिद्धि को लेकर अर्थान्तरता होती है, अतः 'तत्सम्बन्धावच्छिन्नम्'—ऐसा भी प्रतियोगित्व का विशेषण देना चाहिए । 'कपाल में जब घट को पारमार्थिक माना जाता है, तब वहाँ संयोग सम्बन्ध से भी घटादि का अभाव नहीं रह सकता, क्योंकि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाववादी भी विशिष्ट धर्म से सामान्याभाव मानता है, किन्तु सामान्य रूपेण विशेषाभाव नहीं मानता, 'पारमार्थिकत्व' सामान्य धर्म है और घट विशेष ।

बलेनैव तादृशाभावसिद्ध्यापत्त्योक्तस्यार्थान्तरस्यापत्तेः । "मते" इति । यद्व्यक्तौ साध्यं सिद्धं तत्र नानुमितिर्भवति, व्यक्त्यन्तरे तु भवत्येव, समानविशेष्यत्वसम्बन्धेन बाध-विशिष्टबुद्ध्योरिव सिद्ध्यनुमित्योः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकत्वोचित्यादिति प्राचां मतम् । नव्यमते तु यद्धर्मविशिष्टे क्वचित्साध्यं सिद्धं तद्धर्मविशिष्टे व्यक्त्यन्तरेऽपि नानुमितिरिति भावः । "पक्षविशेषणम्" पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणं तावन्मात्रं पक्षतावच्छेद-कमिति यावत् । ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तत्सामानाधि-करण्येन ब्रह्मतुच्छयोः साध्याभावज्ञानस्याविरोधित्वेनान्यविशेषणद्वयस्य पक्षता-वच्छेदकप्रवेशे प्रयोजनाभावादिति भावः ।

"बाधवारणाये"ति । ननु असिद्धिवारणायेत्यपि वक्तुमुचितम् । बाधो हि हेत्वाभासो विप्रतिपत्तिप्रयुक्तन्यायप्रयोगाधीनानुमितावेव विरोधी सन् दूषणं, न तु विप्रतिपत्तिजन्यसंशयविरोधी सन्, वादिनां निश्चयवत्त्वे संशयानुत्पादस्योक्त-त्वात् । तदा हि संशयस्याकर्तव्यत्वेन जयव्यवस्थामात्रसिद्धये विप्रतिपत्तेरिवानुमिति-सामग्रीमात्रस्य हेत्वाभासादिदोषशून्यस्य प्रतिवादिनिष्ठस्य वादिना कर्तव्यतया संशयाविरोधित्वेन बाधस्योद्भावनं व्यर्थम् । अनुमितितत्करणपरामर्शान्यतरविरोधित्व-

---

समाधान—प्रकृत अनुमान के बल पर ही उक्त अभाव की सिद्धि मानकर अर्थान्तरता की प्रसक्ति हो जाती है ।

मूलकार ने 'मते'—ऐसा कह कर मतों का अन्तर ध्वनित किया है । जिस व्यक्ति में साध्य सिद्ध है, उस व्यक्ति में अनुमिति न हो कर व्यक्त्यन्तर में अनुमिति होती है, क्योंकि जैसे समानविशेष्यता सम्बन्ध से बाध और विशिष्ट बुद्धि का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव होता है, वैसे ही विशेष्यतासम्बन्धेन अनुमिति के प्रति विशेष्यता-सम्बन्धेन सिद्धि प्रतिबन्धक होती है—यह प्राचीन नैयायिकों का मत है । नव्य मतानुसार जिस धर्म से विशिष्ट धर्मी में कहीं साध्य सिद्ध है, उस धर्म से विशिष्ट व्यक्त्यन्तर में भी अनुमिति नहीं होती ।

"ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं पक्षविशेषणम्"—यहाँ पर पक्षविशेषणम् का अर्थ है—पक्षतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणम् अर्थात् उतना धर्म (ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वम्) ही पक्षता का अवच्छेदक है क्योंकि ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्व-सामानाधिकरण्येन अनुमिति के प्रति तत्सामान्याधिकरण्येन ब्रह्म और तुच्छ में साध्याभाव का ज्ञान विरोधी नहीं होता, अतः शेष दो (सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व) विशेषणों का पक्षतावच्छेदक में प्रवेश करना व्यर्थ है ।

शङ्का—"बाधवारणाय"—यहाँ पर 'असिद्धिवारणाय'—ऐसा भी कहना चाहिए था, क्योंकि बाध हेत्वाभास (हेतु का दोष) होने के कारण विप्रतिपत्ति वाक्य-प्रयुक्त न्याय-प्रयोग (पञ्चावयव-प्रयोग) के अधीन अनुमिति ज्ञान का प्रतिबन्ध करता हुआ ही दोष माना जाता है, विप्रतिपत्ति-जन्य संशय का विरोधी होकर दोष नहीं कहलाता, क्योंकि वादिगणों के निश्चयवान् होने पर संशय का उत्पाद नहीं होता—यह कहा जा चुका है । उस समय संशय का सम्पादन अपेक्षित नहीं होता, जय पराजय मात्र की व्यवस्था करनेके लिए विप्रतिपत्ति के समान प्रतिवादिनिष्ठ हेत्वाभासादि दोष-शून्य अनुमिति-सामग्री भी वादी के द्वारा सम्पादनीय होती है, अतः संशय का विरोधी न होने के कारण विप्रतिपत्ति-काल में बाध का उद्भावन व्यर्थ है । यदि अनुमिति और

रूपेण हेत्वाभासत्वेन बाधस्योद्भावने च हेत्वसिद्धिरपि तदुचितमिति चेन्न। विप्रतिपत्तिकाले हेतोःप्रयुक्तत्वेन हेतुमत्ताज्ञानविरोधिन्या असिद्धेः ज्ञातुमशक्यत्वेन तस्य विप्रतिपत्तिदोषत्वाव्यवहारात् ।

न च पक्षतावच्छेकावच्छेदेन विप्रतिपत्तौ साध्यस्य विवक्षितत्वाद्धेतोः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन प्रयोक्तव्यतामनुमाय असिद्ध्यादेर्दोषत्वं सम्भाव्यमिति वाच्यम्, अनुमानाकौशलेन सभाक्षोभादिना वा अन्यथापि हेतोः प्रयोगसम्भवात् । वस्तुतस्तु बाधपदमसिद्धेरप्युपलक्षकम् । विप्रतिपत्तियोग्यन्यायवाक्योक्तहेतोर्दोषस्यापि विप्रतिपत्तिदोषत्वसम्भवात् । अत एवाग्रे सन्दिग्धानैकान्तिके विप्रतिपत्तिदोषत्वमाशङ्कितम् । "अत एवोक्तमि"ति, प्राचीनतार्किकैरिति शेषः । नवीनतार्किकैस्तु व्याप्तिग्राहकतर्काभावे सति साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्धे धर्मिणि हेतुनिश्चयोऽपि व्यभिचारसंशयहेतुतया दोष एव। अत एव "वह्निरद्विष्टातीन्द्रियधर्मसमवायी दाहजनकत्वादात्मव" दित्यादि शक्त्यादिसाधकानुमानेषु मणावप्रयोजकत्वमुक्तम्। "तत्र व्यभिचारसंशयस्यादूषणत्वे व्याप्तिपक्षधर्मतानिश्चयसम्भवेनाप्रयोजकत्वोक्तेरसङ्गतेः तस्या दूषणत्व-

---

अनुमिति-करण—इन दोनों में से किसी एक का विरोधी होने के कारण बाध का उद्भावन किया जाता है, तब असिद्धि का भी उद्भावन उचित ही था।

समाधान- विप्रतिपत्ति-काल में हेतु का प्रयोग न होने के कारण पक्षगत हेतुमत्ताज्ञान के विरोधी असिद्धि दोष का ज्ञान नहीं हो सकता। असिद्धि को विप्रतिपत्ति का दोष माना नहीं जाता, अतः उस समय उसका उद्भावन क्योंकर होगा? यदि कहा जाय कि विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्य विवक्षित है, अतः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन हेतु के प्रयोग का भी अनुमान कर लेने पर असिद्ध्यादि हेत्वाभासों का उद्भावन सम्भव हो जाता है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुमान में अपटु व्यक्ति के द्वारा या सभा-क्षोभादि हो जाने के कारण हेतु का अवच्छेदकावच्छेदेन प्रयोग न होकर अन्यथा भी प्रयोग हो सकता है, अतः अवच्छेदकावच्छेदेन विप्रतिपत्ति का प्रयोग अवच्छेदकावच्छेदेने हेतु-प्रयोग का व्यभिचारी हो जाने के कारण उससे अवच्छेदकावच्छेदेन हेतु-प्रयोग का अनुमान सम्भव नहीं। वस्तुतः 'बाध' पद असिद्धि का भी उपलक्षक है और विप्रतिपत्ति-प्रयुक्त न्याय-प्रयोग के घटकीभूत हेतु का दोष विप्रतिपत्ति का भी दोष कहला सकता है, अत एव आगे चल कर (पृ० ७ पर) सन्दिग्धानैकान्तिक में विप्रतिपत्ति दोषता की आशङ्का उठाई गई है।

"अतः एवोक्तम्"—यहाँ आकांक्षा होती है कि 'कैरूक्तम्?' उसका पूरक वाक्य है—प्राचीनैः। नवीन तार्किकों का कहना है कि व्याप्ति-ग्राहक तर्क के न होने पर साध्याभाववत्त्वेन सन्दिग्ध धर्मी में हेतु का निश्चय भी व्यभिचार-संशय का जनक होने के कारण दोष ही है। अत एव "वह्निरद्विष्टातीन्द्रियधर्मसमवायी, दाहजनकत्वात्"—इत्यादि शक्ति-साधक अनुमानों में न्यायतत्त्वचिन्तामणिकार ने अप्रयोजकत्व दोष दिया है। वहाँ व्यभिचार-संशय को दोष न मानने पर व्याप्ति और पक्षधर्मता का निश्चय सम्भव हो जाने के कारण अप्रयोजकत्व की उक्ति असङ्गत हो जायगी, अतः उसे दोष मानना आवश्यक है—ऐसा दीधितिकार ने यद्यपि कहा है, तथापि प्रकृत मिथ्यात्वानुमान में अनुकूल तर्कों का प्रदर्शन मूलकार ने स्वयं आगे (पृ० ३१० पर) किया है, अतः तर्काभावात्मक अप्रयोजकत्व दोष प्रसक्त नहीं होता।

मावश्यकमिति दीधितावुक्तं यद्यपि, तथापि मिथ्यात्वानुमाने तर्काणां वक्ष्यमाणत्वेन न दोषः।

"विमतं" विप्रतिपत्तिविशेष्यम्। "नावयवेष्वि"ति। 'तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रय"मिति मीमांसकोक्तरीत्या तार्किकमीमांसकबौद्धानां पञ्चत्रिद्व्यवयववादित्वात्तान् प्रति यथामतमवयवाः प्रयोक्तव्याः। 'उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिक'मिति मीमांसकाः। उदाहरणोपनयरूपावयववादिनो बौद्धा इति भावः।

ननु विप्रतिपत्तिमात्रस्य निवेशे सिद्धसाधनबाधादिकम्, घटादिमात्रविशेष्यकविप्रतिपत्तिनिवेशे प्रपञ्चमात्रस्य मिथ्यात्वासिद्धिः। तत्राह - "स्वनियामकनियतये'ति। स्वस्याः विप्रतिपत्तेः नियामकं प्रकृतानुमानपक्षतावच्छेदकत्वयोग्यतासम्पादकं यद् ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिविशिष्टविशेष्यकत्वं पूर्वोक्तम्, तेन नियतया विशेषितया; पूर्वोक्तयेति यावत्। ननु पूर्वोक्तविप्रतिपत्तेर्ब्रह्मज्ञानान्याबाध्यत्वादिघटितरूपेण पक्षतावच्छेदके निवेशे लाघवादुक्ताबाध्यत्वादिरूपस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वमुचितम्। तत्राह — "लघुभूतये"ति। तद्व्यक्तित्वादिरूपलघुरूपविशिष्टयेत्यर्थः। तथा च ब्रह्मज्ञानेत्यद्युक्तरूपेण परिचितपूर्वोक्तविप्रतिपत्तिव्यक्तेस्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेश इति भावः। ननूक्ताबाध्यत्वादिरूपस्य विप्रतिपत्तिपरिचायकघटकतया प्रथमोपस्थित्वात्तदेव पक्षता-

---

"नावयवेष्वाग्रहः"—ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि तार्किक न्याय-प्रयोग के प्रतिज्ञादि पाँच अवयव, मीमांसक तीन तथा बौद्ध उदाहरण और उपनयात्मक दो ही अवयव मानते हैं, जैसा कि श्रीपार्थसारथि मिश्र ने कहा है—

तत्र पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥ (शा. दी. पृ. ६४)

अर्थात् मीमांसकगण प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमनरूप तीन ही अवयव मानते है। अतः जो वादी जितने अवयव मानता है, उसके सामने उतने ही अवयवों का प्रयोग करना उचित है।

सन्देह होता है कि विप्रतिपत्ति मात्र का पक्षतावच्छेदककोटि में प्रवेश किया जाता है? या घटादि मात्रविशेष्यक विप्रतिपत्ति का? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधन और बाधादि दोष प्रसक्त होते हैं और द्वितीय पक्ष मानने पर समस्त प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होती—इस सन्देह को दूर करने के लिए मूलकार ने कहा है—स्वनियामकनियतया विप्रतिपत्त्या पक्षतावच्छेदो न विरुद्धः।" स्वस्या यन्नियामकम्, तेन नियतया विप्रतिपत्त्या। अर्थात् विप्रतिपत्ति के नियामक (स्वगत प्रकृत अनुमान की पक्षतावच्छेदकत्वयोग्यता के सम्पादक, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वादि विशेषणों से विशेषित विप्रतिपत्ति पक्षतावच्छेदक मानी जाती है। 'जिन विशेषणों के द्वारा विप्रतिपत्ति में पक्षतावच्छेदकत्व की योग्यता आती है, उन्हीं को सीधा-सीधा पक्षतावच्छेदक मान लेने में ही लाघव है, मध्य में विप्रतिपत्ति का प्रवेश क्यों किया जाता है?' इस सन्देह को दूर करने के लिए मूलकार ने कहा है—"लघुभूतया"। यदि उक्त तीनों विशेषणों से विशिष्ट विप्रतिपत्ति का निवेश किया जाता, तब अवश्य गौरव होता, किन्तु उक्त तीनों विशेषणों के द्वारा विप्रतिपत्ति का परिचय प्राप्त कर पूर्व परिचित विप्रतिपत्ति का तद्व्यक्तित्वेन पक्षतावच्छेदक में प्रवेश किया जाता है, अतः गौरव नही, लाघव ही है। 'विप्रतिपत्ति के परिचायक उक्त तीनों विशेषण प्रथमोपस्थित हैं, अतः उन्हीं को पक्षता-

वच्छेदकं युक्तम् , तत्राह—"यद्वे"ति। "अवच्छेदकमेवेति" । भट्टभास्करमते शुक्तिरूप्यादेः सत्यस्य शुक्त्यादावुत्पत्तिस्वीकारात्तदनुयायिना केनचिद् यदि तस्य मिथ्यात्वमुच्यते , तदा तेन सह विप्रतिपत्तौ तस्यामबाध्यत्वान्तमेव पक्षविशेषणम् ; तथा च न तं प्रति सिद्धसाधनम् । तादृशस्य कस्यचिदभावेऽपि दृष्टान्तसिद्ध्यै शुक्तिरूप्यादौ मिथ्यात्वस्य प्रकृतानुमानात् पूर्वं प्रसाध्यत्वात् , तत्र सिद्धसाधनवारणाय तद्विशेषणं देयमेव । यदा त्ववच्छेदकावच्छेदेनानुमितिमुद्दिश्य विप्रतिपत्तिस्तार्किकादिना सह तदेतरविशेषणे एव देये । तत्राप्यलीकवादिनं प्रत्येवार्हन्तविशेषणं देयम् । एकदा तु न द्वाभ्यां सह विप्रतिपत्तिस्तथैव कथकानां सम्प्रदायात् । तथा च यदेव यं प्रति विप्रतिपत्तौ पक्षविशेषणं तदेव तं प्रति न्यायप्रयोग इति भावः ।

ननु सत्त्वेन प्रतीतियोग्यत्वं सद्रूपचित्तादात्म्यं घटादौ व्यावहारिकम् , घटादितुल्यकक्ष्यत्वात् ; शशविषाणादावलीके तु प्रातीतिकं सम्भवति, अनध्यस्तेऽप्यलीके सत्तादात्म्यस्यारोपसम्भवात् । "यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेने"त्यादिमूलानुरोधात् शुक्तिरूप्यादिप्रातीतिकसाधारणस्य सत्तादात्म्यनिवेश्यत्वादिति चेन्न, तत्रैव

वच्छेदक मानना उचित है, शबर स्वामी कहते हैं—"प्रथममनुग्रहीतव्यं विरोधाभावात्" (शा० भा० पृ० ९६६) । अतः प्रथमोपस्थित को पक्षतावच्छेदक न मान कर पश्चात्तन विप्रतिपत्ति को पक्षतावच्छेदक बनाना अनुचित है—इस अनौचिती को ध्यान में रख कर मूल में कहा गया है—"यद्वा विप्रतिपत्तिविषयतावच्छेदकमेव पक्षतावच्छेदकम् ।" आशय यह है कि भट्ट भास्कर के मतानुसार शुक्ति से सत्य रजत की ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि शुक्ति में भी सत्य रजत के अवयव होते हैं, अतः कोई भास्करानुयायी व्यक्ति यदि उस रजत को मिथ्या कहता है, तब उसके साथ प्रवृत्त कथा के समय विप्रतिपत्ति में अबाध्यत्वान्त ही पक्ष का विशेषण देना चाहिए, उसके प्रति सिद्ध-साधनता का उद्भावन नहीं हो सकता । वैसे भास्करानुयायी व्यक्ति के न होने पर भी दृष्टान्त की सिद्धि के लिए शुक्ति-रजतादि में प्रकृत (प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक) अनुमान से पहले मिथ्यात्व सिद्ध करना होगा, अतः वहाँ सिद्ध-साधनता का वारण करने के लिए वह (बाध्यत्वान्त) विशषण देना ही चाहिए । जब पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन (समस्त) पक्ष में साध्य की अनुमिति के उद्देश्य से तार्किकादि के साथ शास्त्र-चर्चा आरम्भ हो, तब 'सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व और चिद्भिन्नत्व'—ये दो विशेषण ही देने चाहिए । उसमें भी खपुष्पादि अलीक पदार्थों को जो मानता है, उसके लिए ही 'सत्त्वेन प्रतीत्यर्ह—यह विशषण देना है । एक काल में तो दो वादियों के साथ कथा होती नहीं कि सभी विशषणों की सदा आवश्यकता हो । एक समय किसी एक ही वादी के साथ शास्त्रार्थ होता है—ऐसी ही कथक-सम्प्रदाय की मर्यादा है । अतः जब जिसके साथ वाद चले, तब उसके अनुसार ही न्याय-प्रयोग किया जाना उचित है ।

शङ्का—'सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्व' का अर्थ है—सद्रूप चैतन्य का तादात्म्य, वह घटादि में उनके समानसत्ताक व्यावहारिक ही होता है, किन्तु शशविषाणादि अलीक पदार्थों में प्रातीतिक हो सकता है, क्योंकि धर्म के आरोप में धर्मी का निश्चित होना अपेक्षित नहीं, अतः अनिश्चित अलीक पदार्थ में भी सत्तादात्म्य का आरोप सम्भव है और "यदि पुनः पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन"—इत्यादि मूल के अनुरोध पर प्रातीतिक-साधारण सत्तादात्म्य का ही निवेश करना होगा ।

हि सत्तादात्म्याध्यासो यस्य तत्समानकालमध्यासः, शुक्तिरूप्यादिरूपेण परिणममानाविद्याया एव तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणममानत्वात् ; तथा चालीकरूपेणाविद्यायाः अपरिणममानत्वात् नालीकनिष्ठतादात्म्यरूपेण परिणामः। न च स्फटिकादिरूपेणापरिणममानाया अप्यविद्यायाः स्फटिकादिनिष्ठेन जपाकुसुमादिलौहित्यतादात्म्यादिरूपेण परिणामदर्शनाद् अलीकरूपेणापरिणताप्यविद्या तन्निष्ठेन सत्तादात्म्यरूपेण परिणमतामिति वाच्यम् ; तादात्म्यमात्ररूपेण परिणामस्य तथा दृष्टत्वेऽपि सत्तादात्म्यरूपेण परिणामस्य तदनुयोगिरूपेण परिणममानाविद्यानिष्ठत्वनियमाविघातात्।

न च सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्योक्तनियमस्वीकारेऽपि सदनुयोगिकस्यालीकप्रतियोगिकतादात्म्यस्याविद्यापरिणामत्वमास्तामिति वाच्यम् ; सदलीकमिति प्रतीत्यभावेनाविद्यायास्तादृशपरिणामे हेतुत्वाकल्पनात्। अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इति पातञ्जलसूत्रे शब्दमात्रजन्यस्यालीकाकारधीरूपविकल्पस्य सद्रूपाविषयकत्वरूपं वस्तुशून्यत्वमुक्तम्। अत एव, "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय" इति वृत्तिविभाजके पातञ्जलसूत्रे विकल्पात् पृथग्विपर्ययस्योक्तिः। तस्य सद्रूप-

---

समाधान—सत्तादात्म्य का अध्यास उसी धर्मी में होता है, जिसका उसके समान काल में अध्यास होता है, क्योंकि शुक्ति-रजतादि आरोप्य पदार्थों के रूप में परिणममान अविद्या ही तद्गत सत्तादात्म्य के रूप में परिणत होती है, किन्तु शशविषाणादि अलीक पदार्थों के रूप में अविद्या परिणत नहीं होती, अतः उसमें प्रातीतिक सत्तादात्म्य नहीं माना जा सकता।

शङ्का—धर्मी के रूप में परिणममान अविद्या ही धर्म के रूप में परिणत होती है—ऐसा कोई नियम नहीं, क्योंकि स्फटिकादि के रूप में अपरिणममान अविद्या का भी स्फटिकादि में जपाकुसुमादि-लौहित्य के रूप में परिणाम देखा जाता है। इसी प्रकार अलीक पदार्थ के रूप में अपरिणत अविद्या भी तद्गत सत्तादात्म्य के रूप में परिणत क्यों नहीं हो सकती ?

समाधान—दृष्टान्त में तादात्म्यमात्र का परिणाम देखा गया है, सत्तादात्म्य का नहीं, अतः धर्मी के रूप में परिणत अविद्या ही सत्तादात्म्य के रूप में परिणत होती है—ऐसा नियम अक्षुण्ण रहता है।

शङ्का—सत्तादात्म्य दो प्रकार का होता है—एक सत् का तादात्म्य (सत्प्रतियोगिक तादात्म्य) और दूसरा सत् में तादात्म्य (सदनुयोगिक तादात्म्य)। सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के विषय में उक्त नियम को मान लेने पर भी सदनुयोगिक अलीकप्रतियोगिक तादात्म्य तो धर्मी के रूप में अपरिणत अविद्या का परिणाम हो सकता है।

समाधान—'रक्तः स्फटिकः'—इत्यादि प्रतीति के आधार पर वैसा आरोप माना जाता है, किन्तु 'सद् अलीकम्'—ऐसी प्रतीति न होने के कारण सत्प्रतियोगिक तादात्म्य के रूप में अविद्या का परिणाम नहीं माना जा सकता, अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" (यो० सू० १।९) इस पातञ्जल सूत्र में शब्दमात्र-जन्य अलीकाकारबुद्धिरूप विकल्प पदार्थ को सत्तादात्म्यरूप वस्तु से शून्य ही कहा है और "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" (यो० सू० १।६) इस वृत्तियों के विभाजक

विषयकत्वेन वस्तुशून्यत्वाभावात् । किञ्च-सत्प्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रकृते पक्षतावच्छेदके निवेशादलीकप्रतियोगिकतादात्म्यमादाय नोक्तदोषः । ननु माध्वादिमते शुक्तिरूप्यादेरलीकतास्वीकाराद्, 'इदं रूप्यं सदि'त्याकारभ्रमेण तत्र सत्प्रतियोगिकतादात्म्यावगाहनान्माध्वादीन् प्रति न्यायप्रयोगे बाधः सदसद्विलक्षणत्वादिसाध्यस्य तत्राभावात् । न चाबाध्यत्वान्तविशेषणेन तस्य वारणम्, अलीकस्य ज्ञानोच्छेद्यतारूपज्ञानबाध्यत्वाभावादिति चेन्न । त्वन्मते भ्रमस्यासत्ख्यातित्वस्वीकारेणानिर्वचनीयख्यात्यनभ्युपगमेन तादात्म्यादिसम्बन्धस्याप्यलीकस्यैव भ्रमे भानात्, अनलीकस्य भानस्वीकारे तस्य सद्रूपत्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वप्रत्ययानुपपत्तेः अलीकस्यैव तन्मते अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, रूप्यादेरलीकान्यत्वापत्त्या अधिष्ठानान्यभ्रमविषयस्यालीकत्वनियमाच्च सत्स्वरूपस्यैव तादात्म्यस्य तत्र भाने अलीकरूप्यादौ तदनुयोगित्वाभावादलीके रूप्यादिनिष्ठे तादात्म्ये सत्प्रतियोगिकत्वस्येव सद्रूपे अलीकानुयोगिकत्वस्याभावात्, सदसतोरुपरागाभावात्, शुक्तिरूप्यादौ सत्प्रतियोगिकतादात्म्यानुयोगित्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावेन तत्र बाधोक्त्यसम्भवाद्, वक्ष्य-

---

सूत्र में विकल्प से पृथक् विपर्यय (अध्यास) का कथन किया गया है, क्योंकि विपर्यय सत्तादात्म्यरूप वस्तु से शून्य नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि सत्प्रतियोगिक तादात्म्य का प्रकृत पक्षतावच्छेदक में निवेश होने के कारण अलीकप्रतियोगिक तादात्म्य को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता ।

शङ्का—माध्वादि के मत में शुक्ति-रजतादि को अलीक (असत्) ही माना जाता है, अतः 'इदं रजतं सत्'—इस प्रकार की प्रतीति वहाँ सत्प्रतियोगिक तादात्म्य को ही विषय करती है, माध्वादि के लिए न्याय-प्रयोग करने पर बाध दोष होता है, क्योंकि 'सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य का वहाँ अभाव है। अबाध्यत्वान्त विशेषण से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अलीक पदार्थों में ज्ञानोच्छेद्यतारूप ज्ञान-बाध्यत्व (मिथ्यात्व) वहाँ नहीं रहता ।

समाधान—माध्व मत में भ्रम को असत्ख्यातिरूप माना जाता है, अनिर्वचनीय नहीं, तादात्म्यादि अलीक सम्बन्ध का ही भ्रम में भान होता है, अनलीक सम्बन्ध का भान मानने पर सद्रूपत्वेन अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व की प्रतीति उपपन्न नहीं होती, क्योंकि उनके मत में अलीक को ही अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी माना जाता है। उक्त तादात्म्य को अलीक न मानने पर शुक्ति-रजतादि को भी अलीक नहीं माना जा सकेगा, अतः भ्रम के अधिष्ठान से भिन्न विषयमात्र को नियमतः अलीक मानना चाहिए । वहाँ सत्स्वरूप तादात्म्य का ही भान मानवे पर अलीक रजतादि में सत्स्वरूप तादत्म्य का अनुयोगित्व न होने के कारण अलीक रजतादिनिष्ठ तादात्म्य में सत्प्रतियोगिकत्व के समान सद्रूप में अलीकानुयोगिकत्व का अभाव है, क्योंकि सत् और असत् का कोई भी उपराग (सम्बन्ध) नहीं होता । शुक्ति-रजतादि में सत्प्रतियोगिकतादात्म्य के अनुयोगित्वरूप पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होवे के कारण वहाँ बाध दोष उद्भावित नहीं हो सकता । आगे (पृ० १४ पर) वक्ष्यमाण प्रणाली से माध्व मत में सदसद्भिन्नत्व को साध्य नहीं बनाया जा सकता, इस लिए भी उसके मत में बाध का प्रदर्शन सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रपञ्च को सद्रूप ही मानता है, अतः उसके प्रति सद्भिन्नत्वमात्र को साध्य बनाना होगा । 'माध्व मतानुसार शुक्ति-रजतादि में पक्षतावच्छेदक का अभाव

माणरीत्या सदसद्भिन्नत्वस्य माध्वं प्रत्यसाध्यत्वेन तं प्रति बाधाभावाच्च । न चैवमपि तन्मते शुक्तिरूप्यादौ साध्यवैकल्यम्, तं प्रति सद्भिन्नत्वादवक्ष्यमाणमिथ्यात्वस्यैव साध्यत्वात् ।

ननु सद्रूपं शुद्धचिदेव, तत्प्रतियोगिकत्वविशिष्टतादात्म्यत्वावच्छिन्नाधिकरणत्वं च तस्यां नास्तीति चिद्भिन्नत्वविशेषणं व्यर्थमिति चेत्, सत्यम् । उक्ताधिकरणत्वनिवेशे चिद्भिन्नत्वं न देयम्, तत्प्रतियोगिकस्य तादात्म्यस्याधिकरणत्वमात्रनिवेशाभिप्रायेण दत्तम् ।

ननु तादृशतादात्म्यस्यापक्षत्वापत्तिः, तस्य स्वस्मिन्नभावात्, तादात्म्ये तादात्म्यान्तरस्यानवस्थापत्त्या अनङ्गीकाराद् इति चेन्न । घटाद्यभावस्येव तस्य स्वस्मिन् स्वरूपसम्बन्धेन वृत्तित्वस्वीकारात्, घटाभावे घटो नास्तीतिवत् सत्तादात्म्यं सदिति प्रतीतेः । अथ घटादिदृश्यमात्रस्य सत्तादात्म्यवत्त्वे किं मानमिति चेत्, शुक्तिरूप्यादेरिदमादितादात्म्यवत्त्व इव परस्पराध्यासानुभवादिकम् । तथा हि 'इदं रजतम्'—इत्यादि भ्रमस्थले, इदं रजतं जानामि रजतमिदं जानामि" इत्याकारद्वयानुभवादिदमादिविषयतावच्छिन्नं रजततादात्म्यादिविषयत्वं रजतादिविषयतावच्छिन्नं इदमादितादात्म्यविषयत्वं च चिद्रूपानुभवनिष्ठं भातीति स्वीक्रियते । एवम्, "इदं रजतं, रजतमिद"मिति यत् ज्ञानं तत्

होने के कारण बाधोद्भावन सम्भव न होने पर भी साध्य-वैकल्य का उद्भावन क्यों न होगा ?' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि माध्व के प्रति सद्भिन्नत्वमात्र साध्य है और उसका वैकल्य दृष्टान्त में नहीं ।

शङ्का—किसी वस्तु की अपने में अधिकरणता नहीं होती, शुद्ध चैतन्य ही सद्रूप है, सत्प्रतियोगित्व-विशिष्ट तादात्म्यत्वावच्छिन्न अधिकरणत्व उसी चैतन्य में नहीं रह सकता, अतः 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण व्यर्थ है ।

समाधान—उक्त अधिकरणत्व का निवेश करने पर 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण नहीं देना चाहिए । चित्प्रतियोगिक तादात्म्य की अधिकरणतामात्र का निवेश मान कर ही 'चिद्भिन्नत्व' विशेषण दिया गया है ।

शङ्का—सद्रूपतादात्म्य का आश्रयीभूत पदार्थ ही पक्ष है, अतः सद्रूप तादात्म्य पक्ष के अन्तर्गत न हो सकेगा, क्योंकि सद्रूप तादात्म्य अपने में नहीं रहता । तादात्म्य में भी यदि अन्य तादात्म्य माना जाता है, तब अनवस्था हो जायगी ।

समाधान—जैसे घटाभाव में स्वरूपेण घटाभाव रहता है, वैसे ही उक्त सत्तादात्म्य भी अपने में माना जाता है, क्योंकि 'घटाभावे घटो नास्ति'—इस प्रतीति के समान 'सत्तादात्म्यं सत्'—ऐसी प्रतीति सर्व-सम्मत है ।

'घटादि दृश्यमात्र में सत्तादात्म्य रहता है'—इसमें क्या प्रमाण ? इस प्रश्न का उत्तर है कि जैसे शुक्ति-रजतादिगत इदमादि-तादात्म्यवत्ता में परस्पर अध्यासानुभवादि प्रमाण हैं, वैसे ही प्रकृत में । भाव यह है कि 'इदं रजतम्—इत्यादि भ्रमस्थल पर 'इदं रजतं जानामि' और 'रजतमिदं जानामि'—ऐसे दो आकार अनुभूत होते हैं, इनके अनुरोध पर इदमादिविषयतावच्छिन्न रजततादात्म्यविषयत्व और रजतादिविषयतावच्छिन्न इदमादितादात्म्यविषयत्व चिद्रूप अनुभव में प्रतीत होता है—ऐसा स्वीकार किया जाता है [प्रथम अनुव्यवसाय का 'इदं रजतं जानामि'—ऐसा आकार होने के

मिथ्येति बाधकप्रत्ययेन विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वावगाहनाद् भ्रमस्येव तद्विषयाणामपि बाधकधीबाध्यत्वम्। तत्राप्युक्तबाधधीकालेऽपीदमर्थस्य तादृशधीमता पुरुषेणाङ्गुल्या प्रदर्श्यमानस्य स्वरूपतः सत्यत्वानुभवात्तस्य व्यावहारिकस्वरूपत्व-निश्चयेन स्वरूपतो मिथ्यात्वनिश्चयेन मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्योपहितरूपेण मिथ्यात्वनिश्चयः। रजतादितादात्म्ययोस्तु स्वरूपतोऽपि स इतीदमाद्यवच्छेदेन रजतादिकं तत्तादात्म्यं रजतत्वादेः संसर्गश्च रजताद्यवच्छेदेनेदमादेस्तादात्म्यमिदं-त्वादेः संसर्गश्चेति जायते। भ्रमस्थले भ्रमकाले बाध्यस्योत्पत्तिस्वीकारात्तस्य प्रातीतिकत्वेन भ्रमपूर्वमविद्यमानत्वात्।

ननु एकेनैव तादात्म्येनेदंरजतयोराकारद्वये परस्परं प्रति विशेषणतया भान-सम्भवात् तादात्म्यद्वयोत्पत्तौ मानाभाव इति चेन्न, आकारभेदानुपपत्तेः। आकारो हि ज्ञानानां मिथो वैलक्षण्यम्। तच्च विभिन्नविषयत्वरूपं न तु विषयिताविशेषमात्रम्, तथा सति बहिर्विषयमात्रलोपापत्त्या साकारवादापत्तेः। तदुक्तमुदयनाचार्यादिभिः—"अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धिया"मिति। अर्थेन ज्ञानादत्यन्तभिन्नेन घटादि-

---

कारण इदं विषयत्वावच्छिन्न रजततादात्म्यविषयत्व की अवगाहिता उक्त अनुव्यवसाय में होने के कारण व्यवसाय में 'इदं विषयतावच्छिन्नरजततादात्म्यविषयतावत्त्व अत एव इदम्पदार्थ में रजततादात्म्यवत्त्व जैसे सिद्ध होता है, वैसे ही द्वितीय अनुव्यवसाय का 'रजतमिदं जानामि'—ऐसा आकार होने के कारण रजतविषयतावच्छिन्न इदं तादात्म्यविषयत्व की अवगाहिता इस अनुव्यवसाय में रहती है, इसके रहने से व्यवसाय में रजतविषयतावच्छिन्न इदंतादात्म्यविषयत्व की आश्रयता सिद्ध होती है, इसके सिद्ध हो जाने पर रजत में इदंतादात्म्यवत्त्व सिद्ध हो जाता है। अनुव्यवसाय की विषयता सविषयक व्यवसाय ज्ञान पर और व्यवसाय ज्ञान की विषयता वस्तु पर होती है। सम्बद्ध पदार्थगत विषयताओं का परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव माना जाता है]। इसी प्रकार 'इदं रजतम्' और रजतमिदम्'—ऐसा जो ज्ञान है, वह मिथ्या है'—ऐसे बाधक प्रत्यय के द्वारा विषय-विशिष्ट भ्रम ज्ञान में मिथ्यात्व का अवगाहन करने के कारण भ्रम के समान ही उसके विषय में भी बाधक ज्ञान-बाध्यत्व निश्चित होता है। वहाँ उक्त बाधक ज्ञान के समय भी इदमर्थ का भ्रांत पुरुष के द्वारा अङ्गुलि से निर्देश किया जाता है, अतः उसमें स्वरूपतः सत्यत्व का अनुभव होने के कारण उसमें व्यावहारिकत्व का निश्चय तथा मिथ्यात्व का निश्चय होने के कारण मिथ्यात्वेन निश्चीयमानतादात्म्यो-पहितरूपेण मिथ्यात्व पर्यवसित होता है, रजत और उसके तादात्म्य में तो स्वरूपतः मिथ्यात्व-निश्चय होता है, अतः इदमाद्यवच्छेदेन रजतादि, रजतादि का तादात्म्य और रजतत्वादि का संसर्ग रजताद्यवच्छेदेन इदमादि का तादात्म्य और इदंत्व का संसर्ग उत्पन्न होता है, क्योंकि भ्रमस्थल पर भ्रमकाल में बाध की उत्पत्ति स्वीकृत होने के कारण प्राती-तिक रजतादि पदार्थ भ्रम के पूर्व विद्यमान नहीं होते। उक्त स्थल पर एक ही तादात्म्य के मानने पर 'इदं रजतम्' और 'रजतमिदम्'—इस प्रकार दो आकार उपपन्न न हो सकेंगे, क्योंकि आकार ही ज्ञानों का परस्पर वैलक्षण्य होता है। वह वैलक्षण्य विभिन्नविषयकत्वरूप ही होता है, विषयिताविशेष मात्र नहीं। यदि योगाचार के समान ज्ञानगत विषयिताविशेष को ज्ञान का वैलक्षण्य माना जाता है, तब बाह्य विषय मात्र का लोप हो जायगा और योगाचार-सम्मत साकारज्ञानवाद प्रसक्त होगा, जैसा कि

रूपेण विषयेणाभिन्नो धियां विशेषः। निराकारतया ज्ञानधर्मरूपाकारेण घटादिना विषयितास्थानीयेन हीनतया। तथा च घटादिकं विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानाद् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैर्यदुच्यते, तथा न, किन्तु ज्ञानादत्यन्तभिन्नम्, तथैवानुभवादिति भावः। तथा चेदंप्रतियोगिकरजतप्रतियोगिकतादात्म्ययोर्भिन्नयोराकारयोरुत्पत्तिरावश्यकी।

किञ्च 'इदं रजत' मित्यादिधीस्थले रजततादात्म्यविषयत्वं इदं विषयत्वेना-

---

श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"अर्थेनैव विशेषो हि निराकरतया धियाम्" (न्या० कु० ४।४)। [अर्थात् विषय ही अपने ज्ञान का भेदक होता है, जैसे घटादि साकार पदार्थों का भेदक आकार होता है, वैसे ज्ञान का भेदक आकार नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान निराकार होता है, जैसा कि शबरस्वामी कहते हैं—"निराकारा च नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः" (शा० भा० पृ० ३१)] उक्त उदयन-वाक्य का अर्थ है—ज्ञानगत विशेष या भेद ज्ञान-भिन्न घटादि विषय से अभिन्न होता है। निराकारतया का अर्थ है—ज्ञान के धर्मभूत विषयिता-स्थानापन्न घटादि से रहित होने के कारण। इस प्रकार बौद्धगण (योगाचार) जो यह कहा करते हैं कि घटादि पदार्थ बाहर नहीं होते, अपितु ज्ञान के विषयिता स्थानीय ज्ञान के धर्म और ज्ञान से भिन्नाभिन्न होते हैं, वैसी बात नहीं, अपितु घटादि ज्ञान से अत्यन्त भिन्न होते हैं, क्योंकि वैसी ही उनकी अनुभूति होती है [साकारवाद के समर्थन में विद्वद्वर ज्ञानश्री का कहना है—

"नाकारभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः,
तद्बाधके बलिनि मध्यनये जयश्रीः।
नो चेदनिन्द्यमिदमद्वयमेव चित्रम्,
चेतो निराकृतिमतस्य तु कोऽवकाशः॥" (ज्ञानश्री० पृ० ३८६)

अर्थात् 'ज्ञान अपने आकार को छोड़ कर कहीं भी प्रवृत्त नहीं होता, यदि आकार का बाधक कोई प्रवल प्रमाण आड़े आ जाता है, तब भी हमारे माध्यामिक (शून्यवाद) की विजय होती है, अन्यथा यह चित्रज्ञानाद्वयवाद अवाधित रह जाता है, मीमांसकादि-सम्मत निराकारज्ञानवाद को पनपने का कोई अवसर नहीं मिलता।' श्री उदयनाचार्य ने कितना सटीक पदानुपद उत्तर दिया है—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिः,
तद्बाधके बलिनि वेदनये जयश्रीः।
नो भेदनिन्द्यमिदमीदृशमेव विश्वम्
तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः॥ (आत्म० वि. पृ० २३०)

ग्राह्य (विषय) को छोड़ कर ज्ञान कभी भी प्रकाश में नहीं आता। यदि विषयभूत जड़-वर्ग का बाधक कोई हो सकता है, तब भी हमारे वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्माद्वैतवाद के हाथ जयश्री लगती है, अन्यथा यह विषय-विषयीभाव से व्यवस्थित विश्व जैसे-का-तैसा सिद्ध होता है]। फलतः इदंप्रतियोगिक और रजतप्रतियोगिक दो भिन्न-भिन्न तादात्म्यों की उत्पत्ति आवश्यक है।

दूसरी बात यह भी है कि 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थल पर रजततादात्म्य-विषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न है और 'रजतमिदम्'—यहाँ पर इदंतादात्म्य-विषयता (इदंविषयता-विशिष्ट तादात्म्यविषयता) रजतविषयता से अवच्छिन्न है,

वच्छिन्नम् । इदंतादात्म्यविषयत्वं च रजतविषयत्वेनावच्छिन्नमित्याकारद्वयं प्रतीयत इत्युक्तम् । तच्च तादात्म्यस्यैकत्वे नोपपद्यते । रजततादात्म्यविषयताया इदंविषयतावच्छेद्यत्वे रजतादिविषयताया अपीदंविषयतावच्छेद्ये विशेषणत्वादिदंविषयतावच्छेद्यत्वेन नेदं तादात्म्यादिविषयतावच्छेदकत्वसम्भवः, अवच्छेद्य विशेषणीभूतायामिदंविषयितायामवच्छेदकत्वासम्भवात् । न च 'रजतमिदं जानामीत्यादिप्रत्यये रजतादिविषयतावच्छिन्नत्वमिदंविषयताविशिष्टे तादात्म्यविषयत्वे न भाति, किन्तु केवल इति वाच्यम्; तथा सति विशेषणविषयत्वे विशेष्यविषयतावच्छिन्नत्वस्यासिद्ध्यापातात् । न हि तदनुभवः पृथगस्ति । न च तदसिद्धमेव, सर्वानुभवसिद्धत्वात् ।

ननु आस्तामिदमादिविषयत्वरजतादिविषयत्वयोः परस्परावच्छिन्नत्वम्—इति चेन्न । प्रसिद्धावच्छेदकस्य मूलादेस्तदवच्छिन्नसंयोगाद्यवच्छिन्नत्वाननुभवेन विषयत्वयोरपि परस्परावच्छिन्नत्वाकल्पनात् । दृष्टान्तानुसारेणैव कल्पनात् । न च मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्वाद्विलक्षणं विषयत्वनिष्ठमवच्छेदकत्वमिति वाच्यम्, विलक्षणत्वासिद्धेः ।

इस प्रकार जो दो आकार प्रतीत होते हैं, एक ही तादात्म्य की उत्पत्ति मानने पर वे दो आकार सम्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि रजततादात्म्यविषयता इदंविषयता से अवच्छिन्न है, इदंविषयता की अवच्छेद्यभूत रजततादात्म्यविषयता में रजतविषयता विशेषण है, अतः रजतविषयता भी इदंविषयता की अवच्छेद्य हो जाती है, अतः अवच्छेद्यभूत रजतविषयता इदंतादात्म्यविषयता की अवच्छेदक कभी नहीं हो सकती, अतः 'इदं रजतम्'—इस आकार का निर्वाह हो जाने पर भी उसी तादात्म्य से रजतमिदम्—इस आकार का निर्वाह नहीं हो सकता।

शङ्का—'रजतमिदं जानामि'—इस प्रतीति में रजतादिविषयतावच्छिन्नत्व इदं विषयता-विशिष्ट तादात्म्यविषयता में प्रतीत नहीं होता, किन्तु केवल तादात्म्यविषयता में रजत विषयतावच्छिन्नत्व प्रतीत होता है।

समाधान—जब इदं विशेषण है—तादात्म्य का, तब तादात्म्यविषयता का इदं-विषयता अवच्छेदक होती है, जब इदं तादात्म्य का विशेषण ही नहीं, तब इदंविषयता में तादात्म्यविषयता की अवच्छेदकता क्योंकर होगी? उसका नियामक कोई पृथक् अनुभव तो है नहीं। उक्त अवच्छेदकत्वाभावापत्ति में इष्टापत्ति नहीं कर सकते, क्योंकि वह सर्वानुभव-सिद्ध है।

शङ्का—इदंविषयता और रजतादिविषयता का परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव क्यों नहीं माना जा सकता?

समाधान—वृक्षे मूले कपिसंयोगः'—यहाँ पर वृक्षवृत्ति कपि-संयोग की अवच्छेदकता मूल में प्रसिद्ध है, अतः मूलावच्छिन्न संयोग से मूल कभी अवच्छिन्न या अवच्छेद्य नहीं होता, अतः दो विषयताओं का भी परस्पर-अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि दृष्टान्त के अनुसार ही नियमों की कल्पना की जाती है।

शङ्का—मूलादि धर्मिनिष्ठ अवच्छेदकता से विषयत्वादिधर्मनिष्ठ अवच्छेदकता विलक्षण होती है, अतः दृष्टान्त में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव न होने पर भी विषयताओं में परस्पर अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव क्यों न होगा?

समाधान—अवच्छेदक धर्मी हो, या धर्म, उसकी मर्यादा सर्वत्र एक-जैसी रहती

मूलादिनिष्ठावच्छेदकताजातीयस्यैवावच्छेदकत्वस्य विषयत्वे अनुभवात्। विषयता हि विषयेषु ज्ञानस्य तादात्म्यम्, न तु वृत्तेराकाराख्यसम्बन्धः। वृत्तिं विनापि सुखादेश्चिद्रूपज्ञाने विषयत्वानुभवात्। अत एव ज्ञानं चिदेव, न तु वृत्तिः। तथा चैकवृक्षादिनिष्ठसंयोगतदभावयोः अग्रमूलाद्यवच्छेदेनैवैकस्यां सर्वदृश्यतादात्म्यापन्नचिद्व्यक्तौ शुक्त्यादिघटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्यतदभावयोरुपपादनार्थमवच्छेदकत्वस्वीकारेण तादात्म्यरूपविषयत्वे मूलादिनिष्ठसंयोगाद्यवच्छेदकत्वजातीयस्य विषयत्वावच्छेदकत्वस्य सम्भवेन गौरवापादकस्य विलक्षणावच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। मूलादिनिष्ठावच्छेदकत्ववदेव विषयत्वनिष्ठावच्छेदकत्वे अनुभवादिव्यवस्था।

अथ संयोगादेरवच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ तादात्म्यसम्बन्धेन मूलादेर्हेतुत्वात् संयोगादेरेव मूलाद्यवच्छिन्नत्वम्, न विपरीतम्, मानाभावात्, विषयत्वयोस्त्वेकमेवापरत्रावच्छेदकमित्यत्र नियामकाभाव इति चेन्न, व्यावहारिकस्येदमादेः स्वावच्छिन्नसंयोगादौ यत् कारणत्वं क्लृप्तं तद् अवच्छेदकतासम्बन्धेन स्वावच्छिन्नसामान्यस्योत्पत्तौ, तथा च रजतादितत्तादात्म्ययोरपि तत्तदिमर्थव्यक्तिभिरवच्छिन्नत्वात्तयोरुक्तसम्बन्धेनोत्पत्तौ तद्व्यक्तेस्तादात्म्येन हेतुत्वम्। अन्त्यावयविनामपि घटा

है, किसी प्रकार का वैलक्षण्य सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व का समानजातीय ही विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व अनुभूत होता है। यहाँ विषयता का अर्थ है—ज्ञान में विषय का तादात्म्य, वृत्ति का विषयगत आकाराख्य सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वृत्ति के बिना भी चिद्रूप ज्ञान की सुखादि में विषयता अनुभूत होती है, अत एव यहाँ 'ज्ञान' पद से चैतन्यात्मक मुख्य ज्ञान का ग्रहण किया गया है, वृत्ति का नहीं। फलतः जैसे एक ही वृक्ष में रहनेवाले कपि-संयोग और कपि-संयोगाभाव क्रमशः शिखर और मूल से अवच्छिन्न होते हैं, वैसे ही सर्वदृश्यतादात्म्यापन्न एक ही चैतन्य में शुक्तितादात्म्यावच्छेदेन रजततादात्म्य और घटादितादात्म्यावच्छेदेन रजतादितादात्म्य के अभाव का उपपादन करने के लिए ही अवच्छेदकत्व की कल्पना की जाती है। तादात्म्यरूप विषयत्व में मूलादिनिष्ठ संयोगादि के अवच्छेदकत्वसजातीय अन्यनिष्ठ विषयत्व का अवच्छेदकत्व जब सम्भव है, तब गौरवापादक विलक्षण अवच्छेदकत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मूलादिनिष्ठ अवच्छेदकत्व के समान ही विषयत्वनिष्ठ अवच्छेदकत्व में अनुभावादि की व्यवस्था की जाती है।

शङ्का—अवच्छेदकता सम्बन्ध से संयोगादि की उत्पत्ति में तादात्म्यसम्बन्ध से मूलादि हेतु हैं, अतः संयोगादि ही मूलादि से अवच्छिन्न होते हैं, मूलादि संयोगादि से अवच्छिन्न नहीं होते, क्योंकि इस विपरीत अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव में कोई प्रमाण नहीं, किन्तु दो विषयताओं में एक ही दूसरी की अवच्छेदिका है—इसमें कोई नियामक सुलभ नहीं होता।

समाधान—इदमादि व्यावहारिक पदार्थों में इदमावच्छिन्न संयोगादि की जो कारणता क्लृप्त है, वही कारणता अवच्छेदकता सम्बन्ध से इदमावच्छिन्न वस्तु सामान्य की उत्पत्ति में स्थिर है। रजत और रजत का तादात्म्य भी इदमादि व्यक्तियों से अवच्छिन्न है, अतः अवच्छेदकता सम्बन्ध से उसकी उत्पत्ति में तादात्म्येन इदमादि व्यक्ति ही हेतु हैं। अन्त्यावयवी घटादि में भी घटस्थ जलवायुसंयोगादि की अवच्छेदकता

दीनां तन्मध्यस्थजलादिवायुसंयोगाद्यवच्छेदकत्वानुभवात्तेष्वपि तथैव भ्रमविषयावच्छेदकत्वसम्भवः। गुणकर्मादीनां तु तादृशहेतुत्वस्यावल्प्तत्वेऽपि तद्विशेष्यकभ्रमस्थले विशेषणसंसर्गयोर्विशेष्यनिष्ठावच्छेदकतासम्बन्धेनोत्पत्तौ विशेष्यनिष्ठेन तत्तत्सम्बन्धेन दोषाणां हेतुत्वं कल्प्यते। एवमवच्छेदकतासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वपरिणामाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं तादात्म्यभिन्नस्वपरिणामनिष्ठविषयतासम्बन्धेन हेतुः। स्वमज्ञानं तस्य परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टमज्ञानं रजताद्युत्पत्तेरव्यवहितपूर्वक्षण एवास्तीति रजताद्युत्पत्तिक्षण एवेदमादिविशेष्यतादात्म्यं रजताद्यवच्छेदेनेदमाद्याकारमनोवृत्तितादात्म्यं रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेनोत्पद्यते। स्वमज्ञानं तत्परिणामो रजतादिकं तदाकारा वृत्तिश्च तन्निष्ठा विषयता ईश्वरज्ञानादेरस्तीति सा सम्बन्धः। स्वपरिणामे भाविनि तादात्म्यादिसम्बन्धेन पूर्वमज्ञानस्यासत्त्वात् "स्वपरिणामनिष्ठविषयते"त्युक्तम्। विषयतासम्बन्धस्य च भाविभूतविषये ज्ञानादेः सत्त्वादुक्तविषयतासम्बन्धेन भाविन्यप्यज्ञानसत्त्वम्। अत एव "ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतुः"—इति तार्किका वदन्ति।

अनुभूत होती है। वैसे ही भ्रम के विषय की अवच्छेदकता सम्भव है। गुणकर्मादि में वैसी हेतुता अनिश्चित होनें पर भी गुणादिविशेष्यक भ्रम-स्थल पर विशेषण और उसके सम्बन्ध की गुणादिरूप विशेष्यनिष्ठ अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पत्ति में विशेष्यनिष्ठ तत्तत्सम्बन्ध से दोषों में हेतुता मानी जाती है। इसी प्रकार अवच्छेदकता सम्बन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वकीयपरिणामाव्यवहितपूर्वत्व-विशिष्ट अज्ञान तादात्म्य से भिन्न स्वपरिणामगत विषयता सम्बन्ध से हेतु होता है। 'स्वम्' शब्द से यहाँ अज्ञान का ग्रहण किया गया है। उसका परिणाम है—रजतादि और रजताकार वृत्ति, तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट अज्ञान रजतादि की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में ही रहता है, अतः रजतादि के उत्पत्ति-क्षण में ही इदमर्थ का विशेष्यभूत तादात्म्य रजताद्यवच्छेदेन एवं इदमाद्याकार मनोवृत्ति का तादात्म्य रजताकाराविद्यावृत्त्यवच्छेदेन उत्पन्न होता है। अथवा स्वंपदार्थ है—अज्ञान, उसका परिणाम है—रजत और रजताकार वृत्ति, उसमें रहनेवाली जो ईश्वरीय ज्ञान की विषयता है, उसको सम्बन्ध माना जा सकता है। अपने (अज्ञान के) भावी रजतादि परिणाम के पूर्व तादात्म्यादि सम्बन्ध से अज्ञान नहीं रहता, अतः 'स्वपरिणामनिष्ठविषयता' कहा है। ज्ञान का विषयतारूप सम्बन्ध भावीभूत विषय में भी देखा जाता है, अतः अज्ञान उक्त विषयता सम्बन्ध से अपने भावीभूत परिणामरूप विषय में भी रह जाता है। अत एव तार्किकगण कहा करते हैं—"ज्ञायमानघटत्वरूपं सामान्यं घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति स्वसमवायिनिष्ठविषयतासम्बन्धेन भाविभूतनिष्ठेन हेतुः।" [सामान्यलक्षणा के प्रसङ्ग में कहा गया कि घटत्वादि सामान्य के द्वारा भावी घटादि का भी अलौकिक प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि ज्ञायमान घटत्वरूप सामान्य (जाति) भावीभूत घटादि पर भी स्वसमवायिनिष्ठविषयता सम्बन्ध से है और घट का प्रत्यक्ष भी घटवृत्त्यलौकिकमुख्यविशेष्यता सम्बन्ध से घट पर रहता है, समानधिकरण धर्मों में कार्यकारणभाव का निर्वाह हो जाता है]।

रजतादितत्संसर्गयोरिदमाद्यवच्छिन्नत्वात्तदीयचित्तादात्म्यरूपं विषयत्वमपि तथा इदमादिविषयत्वावच्छिन्नं च सम्भवति। इदमादिविषयत्वस्य तु रजतादिप्रतियोगिकताद्दशसंसर्गविषयत्वावच्छिन्नत्वे मानाभावात्। 'रजतमिद'मिति द्वितीयाकारसिद्ध्यर्थं रजतादितद्विषयत्वावच्छेदेन तादात्म्योत्पत्तिः स्वीक्रियते। तस्य च तादात्म्यस्येदमादिप्रतियोगिकत्वसिद्धये प्रतियोगितासम्बन्धेन तादात्म्यस्योत्पत्तौ स्वाश्रयतावच्छेदकत्वसम्बन्धेनोक्ताज्ञानस्य हेतुतान्तरं कल्प्यते। तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादिकं तद्विषयत्वं च तदेव रजतादौ तत्तादात्म्ये तयोर्विषयत्वे च तावदुपहितरूपेणावच्छेदकम्। यत्तु भ्रमकाले इदमर्थस्य तादात्म्यं तत्प्रतियोगित्वोपहितमिदमादिकं च जायते, यच्च तयोर्विषयत्वं, तानि तदुपहितताद्दशरजतादिनावच्छिद्यन्ते। एवञ्च मूलसंयोगादीनामिव परस्परानवच्छिन्नत्वनियमो न व्याहतः, न वा परस्परभिन्नसर्वविषयकत्वरूप आकारयोर्भेदनियमो व्याहतः। 'इदं रजत'मित्याकारे ताद्दशावच्छेद्यावच्छेदकयोरेव भानेन जायमानस्य रजतप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितरजतस्य तदनुयोगित्वोपहितेदमर्थस्य च भानात्। 'रजतमिद'मित्याकारे तु जायमानस्येदंप्रतियोगिकतादात्म्यस्य प्रतियोगित्वोपहितेदमर्थस्य तदनुयोगित्वोपहितरजतस्य चावच्छेद्यावच्छेदकतया भानेनाकारद्वयविषयाणां मिथो भिन्नत्वात्।

न च—इदमाद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्य रजतादौ प्रतियोगितासम्बन्धेनो-

---

यह एक सामान्य नियम है कि जो वस्तु जिस पदार्थ से अवच्छिन्न होती है, उस वस्तु का सम्बन्ध भी उसी पदार्थ से अवच्छिन्न होता है अतः रजत और रजत का संसर्ग इदमादि से अवच्छिन्न होता है, अतएव रजताकारवृत्त्यवच्छिन्न चित्तादात्म्यरूप विषयता भी इदमादि-विषयता से अवच्छिन्न होती है। किन्तु इदमादिविषयता रजतादिप्रतियोगिक उक्त संसर्गविषयता से अवच्छिन्न होती है—इसमें कोई प्रमाण नहीं। 'रजतमिदम्'—इस द्वितीय आकार की सिद्धि के लिए रजततद्विषयत्वाच्छेदेन तादात्म्यान्तर की उत्पत्ति मानी जाती है। इस द्वितीय तादात्म्य में इदमादिप्रतियोगिकत्व सिद्ध करने के लिए प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान में दूसरी हेतुता मानी जाती है। तादात्म्यद्वय मान लेने पर भ्रम के पहले सिद्ध जो इदमादि, इदमादिगत विषयत्व (तादात्म्य) है, वही तत्तदुपहित रूप से रजतादि, रजतादि के तादात्म्य तथा उनमें रहनेवाली विषयता का अवच्छेदक है, अर्थात् रजतोपहित इदमादि पदार्थ रजत का, रजततादात्म्योपहित इदमादि रजततादात्म्य का अवच्छेदक होता है और जो भ्रम-काल में उत्पन्न इदमर्थ का तादात्म्य होता है, उसके प्रतियोगित्व से उपहित इदमादि उत्पन्न होता है, उनमें रहने वाली जो विषयताएँ है, वे उक्त तादात्म्योपहित रजतादि से अवच्छिन्न होती हैं। इसी प्रकार वृक्ष के मूल (अवच्छेदक) और संयोगादि (अवच्छेद्य) पदार्थों के समान प्रकृत में भी न तो परम्परानवच्छिन्नत्व का नियम व्याहत होता है और न विभिन्न आकारों में परस्परभिन्न सर्वविषयकत्वरूप आकार-भेद का नियम। 'इदं रजतम्'—इस प्रकार के आकार में कथित रजतादिरूप अवच्छेद्य और इदमादिरूप अवच्छेदक का ही भान होता है। और 'रजतमिदम्'—ऐसे आकार में तो जायमान इदंप्रतियोगिकतादात्म्य, प्रतियोगित्वोपहित इदमर्थ और तादात्म्यानुयोगित्वोपहित रजत में क्रमशः अवच्छेद्य और अवच्छेदक का भान होने के कारण दोनों आकारों में विषय-भेद सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—यह जो नियम किया गया है कि प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य की

त्पत्त्या तत्रोक्तसम्बन्धेनाज्ञानस्याभावाद् व्यभिचार इति-वाच्यम्, रजतादेरुक्ततादात्म्यस्य प्रतियोगिताभावेऽपि रजतादिसंसर्गतया भानसम्भवात्। न हि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे विशिष्टबुद्धयोर्विषयौ येनानुभवबलादेव तयोस्ते सिद्धयतः। अथवा रजताद्यवच्छेदेन जायमानतादात्म्यस्यापि नेदमादिप्रतियोगिकत्वम्, किन्तु तत्संसर्गतया भानमात्रमतो न तादृशकार्यकारणभावाभावेऽपि क्षतिः। वस्तुतस्तु दोषादिघटिता सामग्र्येव रजतादिप्रातीतिकप्रतियोगिकतादात्म्ये नियामिका, व्यावहारिकप्रतियोगिके प्रातीतिके तादात्म्ये च अज्ञानाश्रयतावच्छेदकत्वं नियामकम्।

ननु 'रजतमिद' मित्याकारसिद्धये इदमादितादात्म्योत्पत्तिस्वीकारो व्यर्थः, इदन्त्वादिसंसर्गोत्पत्त्यापि तादृशाकारसिद्धेः—इति चेन्न, तादृशाकारे तादृशस्य संसर्गस्य तादात्म्यस्य वा भानमित्यत्र विनिगमकाभावात्। तस्माद्धर्मयोः संसर्गाविव धर्मिणोस्तादात्म्ये अपि प्रातीतिके जायेते। तयोरिव तयोरपि सप्रतियोगिकतया

उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान हेतु होता है, वह नियम व्यभिचरित है, क्योंकि इदमाद्यवच्छेदेन जो तादात्म्य उत्पन्न होता है, उसकी रजतादि में प्रतियोगिता सम्बन्ध सेउत्पत्ति होती है, किन्तु वहाँ अज्ञान स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से नहीं रहता, क्योंकि अज्ञान का कार्यभूत रजतादि कभी अज्ञान का आश्रयतावच्छेक नहीं हो सकता, अन्यथा आत्माश्रय दोष होगा।

समाधान—रजतादि में उक्त तादात्म्य की प्रतियोगिता न होने पर भी रजतादि-संसर्गतया तादात्म्य का भान हो जाता है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य में जो क्रमशः संसर्ग का प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व अभिमत है, वह विशिष्ट-बुद्धि का विषय नहीं होता, अतः अनुभव के बल पर तादात्म्य की प्रतियोगिता रजत में और अनुयोगिता इदं में सिद्ध नहीं होती, अतः प्रतियोगिता सम्बन्ध से तादात्म्य न तो रजत में रहता है और न स्वाश्रयतावच्छेदकता सम्बन्ध से वहाँ अज्ञान की अपेक्षा होती है।

अथवा इदमर्थ में जो उक्त कार्य-कारणभाव माना गया, वह भी आवश्यक नहीं, क्योंकि रजताद्यवच्छेदेन इदमर्थ का तादात्म्य उत्पन्न होता है, उसकी भी प्रतियोगिता इदमर्थ में नहीं होती, किन्तु तादात्म्य में इदमर्थ की संसर्गता का व्यवहार मात्र हो जाता है। वस्तुतः रजतादि प्रातीतिकप्रतियोगिक तादात्म्य की नियामिका दोषादि-घटित सामग्री ही मानी जाती है, किन्तु इदमादि व्यावहारिकप्रतियोगिक प्रतीतिकानुयोगिक तादात्म्य की उत्पत्ति में स्वाश्रयतावच्छेदकत्व सम्बन्ध से अज्ञान को हेतु माना जाता है।

शङ्का—'रजतमिदम्'—इस प्रकार द्वितीय आकार की सिद्धि के लिए इदमादि-तादात्म्य की उत्पत्ति माननी व्यर्थ है, क्योंकि इदन्त्वादि-संसर्ग की उत्पत्तिमात्र के मान लेने से उक्त आकार सिद्ध हो जाता है।

समाधान—'रजतमिदम्'—इस प्रकार के ज्ञान में इदन्त्व के संसर्ग का भान होता है, या इदमर्थ का तादात्म्य प्रतीत होता है—इसमें कोई विनिगमक उपलब्ध नहीं होता, अतः इदन्त्व और रजतत्वरूप धर्मों के स्वरूप एवं समवयारूप संसर्गों के समान इदं और रजतरूप धर्मियों के दो प्रातीतिक तादात्म्य भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि धर्मों के स्वरूप और समवायरूप दो सम्बन्धों के समान दो धर्मियों के दो तादात्म्य भी सप्रतियोगिकतया प्रतीत एवं बाध बुद्धि के द्वारा वाध्यत्वेन अनुभूत होते हैं, क्योंकि विषम-

प्रतीयमानत्वाद् बाध्यत्वानुभवाच्च । एतेन—'इह रजतं ने'ति बाधस्य बाध्यं रजतमेव, न तु तत्प्रतियोगिकं तादात्म्यम्, तथा च भ्रमपूर्वसिद्धं यदिदमादितादात्म्यं तस्यैव रजतादिविशेषणं प्रति संसर्गतया भानम्—इत्यपास्तम्, रजतादिप्रतियोगिकतादात्म्यत्वेन प्रतीतेर्बाध्यत्वानुभवस्य च रजताद्यप्रतियोगिकतादात्म्येनानिर्वाहात्। न हि विशेषणविशेष्ययोः संसर्गप्रतियोगित्वानुयोगित्वे न भासेते इति वक्तुं शक्यते। घटभूतलादिनिष्ठयोर्वृत्तिज्ञानीयविशेषणताविशेष्यतयोर्भासमानवैशिष्ट्योयभासमानप्रतियोगित्वानुयोगित्वस्वरूपत्वादवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्नचिच्चेत्यतादात्म्यरूपयोर्विशेष्यताविशेषणतयोश्चिद्रूपज्ञान एव स्वीकारेण वृत्तौ स्वीकर्तुमशक्यत्वात्।

ननु तथापि रजतादेरुपनयसंनिकर्षेण प्रत्यक्षे विषयीभवतो विशेषणत्वमेव न तु विषयत्वम्, उपनीतं विशेषणतयैव भातीति नियमाद्—इति चेन्न। उपनयस्य सिद्धान्ते प्रत्यक्षविषयत्वानियामकत्वादुक्तनियमस्याभावात्। परमते तद्भावेऽप्यलौकिक-

---

विशिष्ट भ्रम ज्ञान के मिथ्या या बाधित होने के कारण रजतप्रतियोगिक और इदम्प्रतियोगिक तादात्म्यादि विषय भी बाधित होते हैं।

यह जो आक्षेप किया जाता था कि 'इदं रजतं न'—इस प्रकार के बाधक ज्ञान का बाध्य केवल रजत ही होता है, रजतप्रतियोगिक तादात्म्य नहीं, अतः भ्रम के पूर्व काल में सिद्ध जो इदमादि का तादात्म्य है, वही रजतरूप विशेषण का भी संसर्ग बन जाता है, रजतप्रतियोगिक तादात्म्य की कल्पना व्यर्थ है।

वह भी इसीलिए अपास्त हो जाता है कि रजतादिप्रतियोगिक तादात्म्यत्वेन जो प्रतीति और बाध्यत्व का अनुभव होता है, उसका रजताप्रतियोगिक तादाम्य के द्वारा निर्वाह नहीं हो सकता। किसी संसर्ग की विशेषण में प्रतियोगिता और विशेष्य में अनुयोगिता प्रतीत नहीं होती—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) वृत्तिरूप गोण ज्ञान और (२) चैतन्यरूप मुख्य ज्ञान। 'घटवद् भूतलम्'—इस प्रकार के वृत्ति ज्ञान की जो घट में विशेषणता और भूतल में विशेष्यता है, वही प्रतीयमान वैशिष्ट्य की क्रमशः प्रतियोगिता और अनुयोगिता कहलाती है, उसे ज्ञान का तादात्म्य नहीं कह सकते, क्योंकि अवयव और अवयवी, अधिष्ठान और अध्यस्तादि का ही तादात्म्य होता है, वृत्ति ज्ञान में न तो विषय का अवयवावयविभाव होता है और न अधिष्ठानाध्यस्तभाव, किन्तु अवच्छेदकावच्छेद्यभावापन्न चैतन्यरूप अधिष्ठान और चेत्य (अध्यस्त पदार्थों) के तादात्म्यरूप विशेष्यता और विशेषणता का भान चैतन्यरूप मुख्य ज्ञान में ही होता है, वृत्तिरूप ज्ञान में उसे नहीं मान सकते।

शङ्का—'इदं रजतम्'—इस प्रत्यक्ष ज्ञान में रजत का ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा भान होने के कारण रजत को उपनीत कहा जाता है, "उपनीतं विशेषणतयैव भाति"—इस न्याय के अनुसार रजतविशेषणक 'इदं रजतम्'—ऐसा ही आकार तर्कसंगत है, 'रजतमिदम्'—ऐसा रजतविशेष्यक ज्ञानाकार सम्भव नहीं, अतः दो तादात्म्यों की उत्पत्ति माननी असंगत है।

समाधान—वेदान्त-सिद्धान्त में प्रत्यक्षता का नियामक न तो कोई उपनय सन्निकर्ष माना जाता है और न रजत का ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष, अतः उक्त न्याय यहाँ लागू नहीं होता। तार्किकादि मतों में वह अभ्युपगत होने पर भी अलौकिक विशेषणता का ही उसे नियामक माना जाता है, लौकिक विशेष्यता के समान

विशेषणतायामेव तस्य नियामकत्वात् । लौकिक्यां च विशेषणतायामिव विशेष्यतायामपि दोषाणामेव बाधविशेषाभावादिसहकृतानां नियामकत्वात् ।

ननु रजतस्याध्यासे स्वीकृते तत्तादात्म्यस्यापि अध्यास आवश्यकः, स एव कुतः, रजतत्वादिधर्मस्यैव संसर्ग आरोप्यते, तावतैव प्रतीतिबाधयोरुपपत्तेः, किमिति रजततत्तादात्म्ययोरध्यास उच्यते—इति चेन्न, रजतस्योत्पत्तिं विना रजतत्वमत्र साक्षात्करोमीति प्रत्ययानिर्वाहात् । देशान्तरस्थरजते मनोऽवच्छिन्नचित्तादात्म्याभावेन तद्गतरजतत्वादावपि तदभावात् । न च रजतत्वादेरेवोत्पत्तिरस्तु, न तु तद्वत इति वाच्यम्, अनेकधर्माणामुत्पत्तिकल्पनामपेक्ष्यैकस्य धर्मिण एवोत्पत्तिकल्पनाया लघुत्वात् । अखण्डरजतत्वादेरुत्पत्तौ तस्य पूर्वमननुभूतत्वेन पूर्वानुभूतरजतत्वादिप्रकारकप्रवृत्त्यादिकार्यस्य भ्रमस्थलेऽनुपपत्तेः । तस्मादिदमादितादात्म्यस्य रजताद्यवच्छेदेनावश्यमुत्पत्तिः प्रातीतिकभ्रमस्थले वाच्या । तथा च तद्वदेव व्यावहारिकघटादिभ्रमस्थलेऽपि 'सन्तं घटं जानामि' 'घटं सन्तं जानामि'त्याकारद्वयानुभवात्, तादृशभ्रमस्य विषयविशिष्टस्य बाधकप्रत्ययेन श्रुत्यनुमानादिना च मिथ्यात्वप्रत्ययाच्च, सदवच्छेदेन घटादिकं तत्तादात्म्यं घटत्वादिसंसर्गश्च, घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्यं सत्त्वादिधर्मसंसर्गश्च जायते, केवलस्य सतोऽधिकरणत्वेऽपि तादात्म्यप्रतियोगित्वोपहितरूपेण तस्य तत्सम्बद्धत्वेनावच्छेदकत्वम् ।

लौकिक विशेषणता में भी बाधविशेषाभावादि से सहकृत दोषों को ही नियामक माना जाता है ।

शङ्का—रजत का अध्यास मान लेने पर ही तद्गत तादात्म्य का अध्यास माना जा सकता है, किन्तु रजत का ही अध्यास क्यों ? केवल रजतत्वादि धर्म का संसर्गमात्र आरोपित होता है, उतने मात्र से उक्त प्रतीति और बाध की उपपत्ति हो जाती है, रजत और उसके तादात्म्य का आरोप किस लिए होगा ?

समाधान—शुक्ति में जब तक रजत की उत्पत्ति न मानी जाय, तब तक "रजतत्वमत्र साक्षात्करोमि"—ऐसी अनुभूति का निर्वाह नहीं हो सकता । देशान्तरस्थ रजत के साथ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का तादात्म्य न हो सकने के कारण रजतगत रजतत्व के साथ भी तादात्म्य नहीं हो सकता । 'शुक्ति में रजतत्वमात्र की उत्पत्ति मान ली जाय, रजतत्व-विशिष्ट की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता ? इस शङ्का का समाधान यह है कि अनेक धर्मों की उत्पत्ति-कल्पना की अपेक्षा एक धर्मी की कल्पना ही लघु होती है । रजतरूप धर्मी से निरपेक्ष अखण्ड (अतिरिक्त) रजतत्व की उत्पत्ति मानने पर अखण्ड रजतत्व पहले अनुभूत न होने के कारण शुक्ति में रजतार्थी की रजतत्व-प्रकारक प्रवृत्ति न हो सकेगी, अतः रजताद्यवच्छेदेन इदमादि के तादात्म्य की उत्पत्ति प्रातीतिक भ्रम-स्थल पर अवश्य माननी होगी, उसी प्रकार ब्रह्म में व्यावहारिक घटादि-भ्रम-स्थल पर भी "सन्तं घटं जानामि', 'घटं सन्तं जानामि'—इस प्रकार दो आकारों की अनुभूति होती है एवं विषय-विशिष्ट उक्त भ्रम में बाधक प्रत्यय, श्रुति और अनुमानादि से मिथ्यात्व की प्रतीति होती है, अतः 'सदवच्छेदेन घटादि, घटादि का तादात्म्य तथा घटत्वादि का संसर्ग उत्पन्न होता है और घटाद्यवच्छेदेन सत्तादात्म्य और सत्त्वादि धर्म का संसर्ग । यद्यपि केवल शुद्ध सत् वस्तु अधिकरण है, तथापि तादात्म्योपहितत्व-रूपेण सत् पदार्थ अधिष्ठानभूत शुद्ध वस्तु से सम्बन्धित होने के कारण अवच्छेदक माना जाता है ।

न च एकस्यैवानादेः सत्तादात्म्यस्याविद्यायामिव घटादावपि सम्भवाद् घटाद्यवच्छेदेनानन्तसत्तादात्म्यानामुत्पत्तौ न मानमिति वाच्यम् , सत्तादात्म्यं हि चिद्रूपज्ञानस्य विषयतारूपतादात्म्यम् , तथा च कपालादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्येनावच्छिन्नस्य घटादिनिष्ठविषयतारूपस्य सत्तादात्म्यस्य तन्त्वादिनिष्ठविषयतारूपसत्तादात्म्यावच्छिन्नेन पटादिनिष्ठविषयतारूपेण सत्तादात्म्येनाभेदासम्भवादवच्छेदकभेदेन सत्तादात्म्यानां भेदस्यावश्यकत्वेनानन्त्यं प्रामाणिकम् । न हि तार्किकादिभिरपि तत्तद्विषयतावच्छिन्नविषयतानामैक्यमुच्यते । तेषां च संयोगादिवदुक्तरीत्या जन्यत्वमपि । तस्मादाकारद्वयानुभवाद् , भ्रमविषयत्वहेतुना मिथ्यात्वानुमितेः, 'सत्तादात्म्यमिदमादितादात्म्यं च यदि मिथ्या न स्यात्तदा भ्रमविषयो न स्याद् विषयविशिष्टभ्रमस्य मिथ्यात्वप्रत्ययाद्', इति तर्कादिदमादितादात्म्यमिव सत्तादात्म्यमपि मिथ्या । तदिदं सर्वं शारीरकसंक्षेपशारीरकपञ्चपादिकादिमूलकम् । उक्तं हि शारीरके—"अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहार" इति । अन्योन्यस्मिन् परस्परावच्छेदेन । उक्तञ्च सक्षेपशारीरके—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥

शङ्का—एक अनादि सत्तादात्म्य ही अविद्या के समान घटादि में भी सम्भव है, अतः घटाद्यवच्छेदेन अनन्त सत्तादात्म्यों की उत्पत्ति निष्प्रमाण है ।

समाधान—सत्तादात्म्य का अर्थ है—चिद्रूप ज्ञान का विषयतारूप तादात्म्य । 'कपालादिनिष्ठ विषयतारूप सत्तादात्म्य से अवच्छिन्न घटादिनिष्ठ विषयतारूप तादात्म्य' और 'तन्त्वादिगत विषयतारूप सत्तादात्म्य से अवच्छिन्न पटादिनिष्ठ विषयतारूप सत्तादात्म्य' का कभी भी अभेद नहीं हो सकता, अतः अवच्छेदक के भेद से तादात्म्यों का भेद प्रामाणिक है, क्योंकि तार्किकादि भी कपालादिविषयता से अविच्छिन्न घटादिविषयता और तन्त्वादि-विषयता से अवच्छिन्न पटादि की विषयता का अभेद नहीं मानते । उनमें संयोगादि के समान जन्यत्व भी सिद्ध होता है । फलतः दो आकारों का अनुभव होने के कारण कथित तादात्म्यों में भी भ्रम-विषयत्व हेतु के द्वारा मिथ्यात्व का अनुमान होता है—सत्तादात्म्य और इदमादि के तादात्म्य यदि मिथ्या नहीं होंगे, तब भ्रम के विषय भी न हो सकेंगे, क्योंकि विषय-विशिष्ट भ्रम मिथ्या होता है'—इस प्रकार के तर्क की सहायता से इदमादि तादात्म्य के समान सत्तादात्म्य भी मिथ्या ही होता है । यह सब कुछ (१) शारीरक भाष्य, (२) संक्षेपशारीरक और (३) पञ्चपादिका के आधार पर कहा गया है ।

(१) शारीरक भाष्य में कहा गया है—"अन्योऽन्यस्मिन् अन्योऽन्यात्मकतामध्यस्याहमिदं ममेदमिति व्यवहारः" (ब्र० सू० १।१।१) । यहाँ "अन्योऽन्यस्मिन्"—इसका अर्थ परस्परावच्छेदेन है, जैसा कि 'सन् घटः' और 'घटः सन्'—इत्यादि स्थलों पर कहा जा चुका है कि सदवच्छेदेन घट का और घटावच्छेदेन सत्तादात्म्य का अध्यास होता है ।

(२) संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है—

इदमर्थवस्त्वपि भवेद्रजते परिकल्पितं रजतवस्त्विदमि ।
रजतभ्रमेऽस्य च परिस्फुरणान्न यदि स्फुरेन्न खलु शुक्तिरिव ॥

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्न हि कल्पनागुरुतरा घटते ॥
अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनमेव ततः ।
चिति चेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति ॥ इति ।

अस्य इदमर्थस्य, "न यदी"त्यादि । यदीदमर्थो न कल्पितः, तदा भ्रमे न स्फुरेत् । शुक्तिरिव शुक्तित्वविशिष्टमित्येत्यर्थः । इतरेतराध्यसनं परस्परावच्छेदेनाध्यासः । "गुरुतरे"ति । रजतादिभ्रमे यथा दृष्टं तद्विपरीता व्यावहारिकभ्रमस्थले एकस्यैवाध्यास उत्पत्तिश्चेति कल्पनानुपस्थितविषयकत्वेन गुर्वी । आवश्यकानामनन्तसत्तादात्म्यानां विषयत्वरूपाणामनध्यस्तत्वे सत्यत्वापत्तेरद्वैतश्रुतिसङ्कोचापत्तेश्च । तेषामध्यस्तत्वेऽपि न जन्यत्वमिति स्वीकारे कपालादिनिष्ठविषयत्वावच्छिन्नानां घटादिनिष्ठविषयत्वानां पूर्वोक्तरीत्या कपालादिनाप्यवच्छिन्नत्वात्तादृशनित्यसाधारणेन कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादीनां कपालादिकार्यता न सम्भवतीत्यतो जन्यत्वविशेषितेनोक्तरूपेण सा वाच्या । तथा चैतादृशगुरुतरकल्पनामूलकत्वेनैकस्यैवाध्यासोत्पादादिकल्पना गुरुतरेत्यर्थः । अनुभूतिराकारद्वयानुभूतिः आद्यपद्यस्याद्यार्धे

इतरेतराध्यसनमेव ततश्चितिचेत्ययोरपि भवेदुचितम् ।
रजतभ्रमादिषु तथावगमान्न हि कल्पना गुरुतरा घटते ॥
अनुभूतियुक्त्यनुमितित्रितयादितरेतराध्यसनसिद्धिरतः ।
चितिचेत्यवस्तुयुगलस्य न चेत् त्रितयस्य बाधनमिहापतति ॥ (सं. शा. १।३८)

[इदम् पदार्थ भी रजत में (वैसे ही) कल्पित है, (जैसे कि) रजतवस्तु इदम् पदार्थ में; क्योंकि यह (इदम्पदार्थ) रजत-भ्रम में परिस्फुरित होता है । इदम् पदार्थ यदि अध्यस्त न होता, तब शुक्ति के समान ही प्रतीत न होता । अध्यास होने के कारण अहम्—इस प्रकार चेतनाचेतन का अध्यास भी अन्योऽन्याध्यास ही उचित होगा, क्योंकि रजतादिभ्रमों में वैसा ही अनुभव-होता है । अन्य प्रकार की गुरुतर कल्पना नहीं जँचती । अनुभव, युक्ति और अनुमिति इन तीनों से चेतनाचेतन का अन्योऽन्याध्यास सिद्ध होता है, अन्यथा उन तीनों का यहाँ बाध हो जायेगा] ।

उक्त श्लोकों में "अस्य" का अर्थ इदमर्थ है । "न यदि"—इसका भाव है कि यदि इदमर्थ कल्पित नहीं, तब भ्रम में स्फुरित नहीं होगा । शुक्तिरिव का अर्थ है-शुक्तित्वविशिष्ट के समान । इतरेतराध्यसनं का अर्थ—परस्परावच्छेदेन अध्यास है । "गुरुतरा" का अर्थ है—रजतादि-भ्रम में जैसा देखा गया है, उसके विपरीत व्यावहारिक भ्रम-स्थल पर एक का ही अध्यास और उत्पाद—इस प्रकार की कल्पना अनुपस्थित विषयिणी होने से गुर्वी है । आवश्यक अनन्त सत्तादात्म्य यदि अध्यस्त नहीं माने जाते, तब उनमें सत्यत्वापत्ति और अद्वैत श्रुति में संकोचापत्ति होती है । 'वे तादात्म्य' अध्यस्त होने पर भी जन्य नहीं'—ऐसा मानने पर कपालादिनिष्ठ विषयत्वावच्छिन्न घटादिनिष्ठ विषयताएँ भी पूर्वोक्त रीति के अनुसार कपालादि से भी अवच्छिन्न होने के कारण कपालाद्यवच्छिन्नत्वरूपेण संयोगादि में कपालादि की कार्यता सिद्ध न होगी, क्योंकि घटादिनिष्ठ सत्तादात्म्यरूप विषयता नित्य होती, कार्य नहीं, अतः संयोगादि में कपालादि की कार्यता का जन्यत्व विशेषण लगाना होगा । फलतः एक तादात्म्य की ही उत्पत्ति-कल्पना में महान् गौरव होगा । "अनुभूति" पद से आकारद्वय की अनुभूति का ग्रहण किया गया

उक्ता। अनुमितिः भ्रमविषयत्वहेतुका मिथ्यात्वानुमितिस्तृतीयचरणे। युक्तिस्तर्कश्चतुर्थचरणे।

पञ्चपादिकायामप्युक्तम्—"यद्यनात्मन एवाध्यासस्तदा आत्मा न भ्रमे भासेत। तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवे अध्यास" इति।

ननु विप्रतिपत्तौ मिथ्यात्वविशेषस्यैव साध्यतयोक्तत्वान्न्यायप्रयोगेऽपि तस्यैव तदुचितम्, न तु मिथ्यात्वसामान्यस्य—इति चेन्न, विप्रतिपत्तावपि मिथ्यात्वस्य सामान्यरूपेणैव साध्यतायां तात्पर्यात्। तच्च सामान्यरूपं वक्ष्यमाणपञ्चविधमिथ्यात्वसाधारणं मिथ्याशब्दार्थत्वरूपं मिथ्याशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, न तु पञ्चविधमिथ्यात्वानामन्यतमत्वम्, न्यायप्रयोगे आधुनिकलक्षणया शब्दप्रयोगस्यासाम्प्रदायिकत्वात्। मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्याशब्देन मिथ्यात्वस्य बोधने निरूढलक्षणैव नाधुनिकलक्षणा। 'वृक्षो महीरुह' इत्यादौ कोशवाक्ये व्याख्यानवाक्ये च महीरुहादिपदस्य तदर्थपरत्वेन भूरिप्रयोगदर्शनात्॥

इति लघुचन्द्रिकायां पक्षतावच्छेदकत्वनिरुक्तिः॥

है, जो कि प्रथम पद्य के पूर्वार्ध में कही गई है। 'अनुमिति' पद से भ्रमविषयत्वहेतुक मिथ्यात्वानुमिति तृतीय चरण में चर्चित गृहीत हुई है। 'युक्ति' पद से उस तर्क का ग्रहण किया गया है, जो कि उक्त प्रथम पद्य के चतुर्थ पाद में निर्दिष्ट है।

(३) पञ्चपादिका में भी कहा है—"यद्यनात्मन एवाध्यासः, तदा आत्मा न भ्रमे भासेत, तस्मादात्मानात्मनोर्द्वयोरप्यहमनुभवे अध्यासः" (पं० पा० पृ० १५७)।

शङ्का—विप्रतिपत्ति में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप द्वितीय मिथ्यात्व का ही निर्देश किया गया है किन्तु प्रतिज्ञावाक्य में कहा गया है—"विमतं मिथ्या", इस प्रकार विप्रनिपत्तिवाक्य में विशेष मिथ्यात्व और प्रतिज्ञावाक्य में सामान्य (पञ्चविधमिथ्यात्वानुगत) मिथ्यात्व का ग्रहण संगत नहीं प्रतीत होता।

समाधान—विप्रतिपत्तिवाक्य का भी तात्पर्य सामान्य मिथ्यात्व की साध्यता में ही है, केवल द्वितीय मिथ्यात्व को साध्य बनाने में नहीं, अन्यथा शेषभूत चार मिथ्यात्व पदार्थों का विप्रतिपत्ति में निर्देश न होने के कारण प्रतिज्ञावाक्य में उनका ग्रहण संभव न हो सकेगा, अतः विप्रतिपत्ति वाक्य तथा प्रतिज्ञावाक्य में किसी प्रकार की असंगति नहीं। प्रतिज्ञावाक्य में निर्दिष्ट सामान्य मिथ्यात्व का अर्थ है—वक्ष्यमाण पञ्चविधमिथ्यात्वानुगत 'मिथ्या' शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मिथ्याशब्दार्थत्व, पञ्चविधमिथ्यात्वान्यतमत्व नहीं, क्योंकि न्याय-प्रयोग में आधुनिक (निरूढलक्षणा-भिन्न) लक्षणा के द्वारा शब्द-प्रयोग असाम्प्रदायिक माना जाता है, 'मिथ्या' शब्द के द्वारा मिथ्याशब्दार्थत्वरूपेण मिथ्यात्व के बोधन में निरूढ (अनादितात्पर्यावगाहिनी) लक्षणा ही मानी जाती है, क्योंकि 'वृक्षो महीरुहः'—इत्यादि कोश वाक्यों और उनके व्याख्यान वाक्यों में वृक्षार्थक निरूढ 'महीरुह' पद का प्रचुर प्रयोग देखा जाता है।

पक्षतावच्छेदकत्वविचार समाप्त।